स्थितप्रज्ञ-दर्शन

विनोबा

स्थितप्रज्ञ-दर्शन

लेखक

विनोबा

अनुवादक

हरिभाऊ उपाध्याय

प्रकाशक

सर्व सेवा संघ प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी २२१ ००१

फोन : ०५४२-२४४०३८५

Email: sarvodayavns@yahoo.co.in

प्रकाशकीय

विनोबा की तीन आध्यात्मिक कृतियाँ हैं, उत्तरोत्तर गहन और सूक्ष्म-'गीता-प्रवचन', 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' और 'उपनिषदों का अध्ययन'। आदि और अन्त के मध्य की कड़ी है यह ग्रन्थ।

'स्थितप्रज्ञ' गीता का आदर्श पुरुष-विशेष है। प्रस्थानत्रयी में गीता का जैसा महत्त्वपूर्ण स्थान है, वैसा ही महत्त्वपूर्ण स्थान गीता में 'स्थितप्रज्ञ' का है।

महात्मा गांधी ने जब से स्थितप्रज्ञ के श्लोकों को प्रार्थना का अंग बनाया, तब से हजारों-लाखों व्यक्ति प्रतिदिन अत्यन्त भक्तिभाव से सायंकालीन प्रार्थना में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का पाठ कर इनसे प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

स्थितप्रज्ञ कैसा होता है, वह कैसे बोलता है, कैसे रहता है? यह केवल अर्जुन का ही प्रश्न नहीं, प्रत्येक साधक का प्रश्न है, शाश्वत प्रश्न है। सन् 1944 के शीतकाल में सिवनी-जेल में सत्याग्रही कार्यकर्ताओं के अनुरोध पर गीता-माता के अनन्य भक्त विनोबा ने स्थितप्रज्ञ के 18 श्लोकों पर 18 व्याख्यान दिये और बताया कि स्थितप्रज्ञ कैसे बना जा सकता है।

विनोबा की मान्यता है कि 'कोई सींकिया पहलवान इस जन्म में गामा बन सकेगा या नहीं, इसमें संदेह हो सकता है। किसी अल्पबुद्धि मनुष्य के लिए राष्ट्रकार्य-संचालन का नेतृत्व साधना सम्भव नहीं, परन्तु नितान्त **अल्पबुद्धि और अशिक्षित मनुष्य भी इस जन्म में स्थितप्रज्ञ हो सकता है।** उसके लिए गठरीभर बुद्धि की जरूरत नहीं, प्रज्ञा की एक चिनगारी ही काफी है।'

प्रज्ञा की यह चिनगारी कैसे प्राप्त की जाय, इसका अत्यन्त सूक्ष्म और शास्त्रीय विवेचन 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' में है। इस ग्रन्थ का तेरहवाँ संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इस संस्करण में समग्र दर्शन को चिन्तनसुलभ बनाने के लिए विनोबा-रचित 44 संस्कृत सूत्र-**'प्राज्ञ-सूत्राणि'** भी जोड़े गये हैं। मूल मराठी से हिन्दी अनुवाद मिलाने में सर्वश्री कृष्णचन्द्रजी (उरलीकांचन) और बाद में ति. न. आत्रेय और जमनालाल जैन ने पर्याप्त श्रम किया है और श्री शिवाजी भावे ने उसे देख लिया है।

हम मानते हैं कि अध्यात्म-प्रेमी पाठक इस दर्शन का पूरा लाभ उठायेंगे और साधकों के लिए तो यह दर्शन षड्-दर्शन के उपरान्त 'सप्तम दर्शन' जैसा ही उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रभु हमें स्थितप्रज्ञ बनाने में सहायक हों।

निवेदन

सन् 1944 के जाड़ों में सिवनी-जेल में कुछ लोगों के सामने **'स्थितप्रज्ञ-लक्षण'** पर दिये गये ये व्याख्यान हैं। सारे हिन्दुस्तान में हजारों सत्याग्रही स्त्री-पुरुष रोज शाम को प्रार्थना में इन लक्षणों का पाठ भक्तिभाव से करते हैं। उनके उपयोग के लिए ये व्याख्यान पुस्तक-रूप में प्रस्तुत हैं। शास्त्र-संतोषार्थ उनमें आवश्यक परिवर्तन भी किया गया है।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में समग्र दर्शन ही भरा हुआ है। उसे खोलकर दिखाने का इनमें प्रयत्न किया गया है। सम्भव है, उसका कुछ भाग पाठकों को पहले ही वाचन में शायद हृदयंगम न हो; परन्तु अनेक बार पढ़कर चिन्तन करते रहने से, और जितना समझ में आ गया है उतने का प्रयोग करते रहने से, धीरे-धीरे अनुभव द्वारा सारा आशय खुल जायेगा।

तीस वर्षों के निदिध्यास से जो अर्थ स्थिर हुआ, उसका विवरण यहाँ किया है। इसमें कुछ कमी-बेशी होगी ही। उसका उपाय यही है कि सब कुछ ईश्वरार्पण करके छुट्टी पायें। मेरे विचार में इसी हेतु से यह प्रकाशन किया जा रहा है।

परंधाम, पवनार **- विनोबा**

12 अप्रैल, 1946

अनुक्रम

पहला व्याख्यान

(1) 1. गीता में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का विशेष स्थान 2. पूर्व-भूमिका : सांख्य-बुद्धि व योग-बुद्धि 3. योग-बुद्धि की आखिरी मंजिल : स्थिर समाधि, अर्थात् स्थितप्रज्ञता 4. तद्विषयक जिज्ञासा।

(2) 5. दुहरी समाधि : वृत्तिपरक तथा स्थितिपरक 6. स्थितप्रज्ञ की समाधि वृत्ति नहीं है 7. इस विषय में गीता और योग-सूत्रों की एकवाक्यता।

(3) 8. 'स्थित-प्रज्ञा' में कंपन और वक्रता नहीं 9. कंपन और वक्रता का अधिक विश्लेषण 10. बुद्धि और प्रज्ञा का भेद 11. शरीर-शक्ति से बुद्धि-शक्ति की विशेषता।

दूसरा व्याख्यान

(4) 12. समाधि का कुछ और विवेचन 13. स्थितप्रज्ञ की समाधि की निषेधक और विधायक मिलाकर पूर्ण व्याख्या 14. निषेधक व्याख्या : निःशेष कामना-त्याग 15. विधायक व्याख्या : आत्मदर्शन 16. आत्मदर्शन व कामना-त्याग परस्पर कार्य-कारण हैं।

(5) 17. कामना-त्याग की चार प्रक्रियाएं 18. कर्म-योग की विस्तारक प्रक्रिया 19. ध्यान-योग की एकाग्र प्रक्रिया 20. ज्ञान-योग की सूक्ष्म प्रक्रिया 21. भक्ति-योग की विशुद्ध प्रक्रिया 22. विशुद्ध प्रक्रिया सब प्रकार से सुरक्षित।

तीसरा व्याख्यान

(6) 23. स्थितप्रज्ञता के सुलभ साधन (अ) सुख-दुःख सह लो 24. (आ) वृत्ति न उठने दो 25. स्थितप्रज्ञता का सुलभतर साधन : वृत्तियों के साथ न बहो 26. स्थितप्रज्ञात का सुलभतम साधन : इन्द्रिय-नियमन।

(7) 27. इन्द्रिय-नियमन वस्तुतः कठिन नहीं 28. इन्द्रिय-नियमन के दो प्रकार : संयम और निग्रह 29. उनका और अधिक विवरण 30. इन्द्रिय-जय का गीता की दृष्टि में महत्त्व।

चौथा व्याख्यान

(8) 31. इन्द्रिय-जय के विज्ञान की प्रस्तावना 32. निराहार प्राथमिक साधना, रस-निवृत्ति पूर्णता 33. पूर्ण व्याख्या के साथ ही प्राथमिक साधना दिखानेवाली गीता की गुरु-दृष्टि 34. प्राथमिक साधना स्पष्ट ही अपूर्ण, परन्तु इसलिए ढोंग नहीं 35. साधना की पूर्णता पर-दर्शन, अर्थात् आत्म-दर्शन।

(9) 36. इन्द्रियों का उद्दंड-स्वभाव : मनु का एतद्विषयक वचन 37. मनु की और गीता की भूमिका समान नहीं 38. ज्ञानी और प्रयत्नवान मनुष्य के मन को भी इन्द्रियां खींच सकती हैं 39. परन्तु ज्ञान और तितिक्षापूर्वक प्रयत्न, यही दो शक्तियां मनुष्य के पास हैं 40. जब ये भी काफी न हों, तो क्या करें?

पाँचवाँ व्याख्यान

(10) 41. मनु और गीता के वचनों का विशेष विवेचन 42. युक्तिपूर्वक यथाशक्ति इन्द्रिय-निग्रह करके जब अपना बल कम पड़े, तो भक्ति का आवाहन करें 43. वहीं भक्ति आवश्यक 44. प्राप्त शक्ति का पूर्ण उपयोग कर लेने पर ही ईश्वर से अधिक शक्ति मांगने का अधिकार है 45. इसके लिए गजेन्द्र-मोक्ष का परिष्कृत दृष्टांत 46. ईश्वर-शरणता में पराधीनता नहीं।

(11) 47. स्थूल सांसारिक कार्य ईश्वर की सहायता के विषय नहीं 48. ईश्वर से याचना—याचना की उचित रीति 49. हमारे लिए क्या उचित है, यह स्वयं ईश्वर ही जानता है, अतः सकाम प्रार्थना न करें 50. सकाम-भक्ति को भी सशर्त मान्यता।

छठाँ व्याख्यान

(12) 51. अब तक के विवेचन का सारांश : यतत् + विपश्चित् + मत्पर = स्थितप्रज्ञ 52. ईश्वर-परायणता स्वतंत्र ध्येय है 53. ध्येय विधायक होना चाहिए 54. ब्रह्मचर्य अर्थात् ईश्वर-परायणता ऐसा विधायक ध्येय है 55. ईश्वर-भक्ति ईश्वर-भक्ति के ही लिए है 56. भक्त की भूमिका प्राकृतिक चिकित्सक की तरह।

(13) 57. अनन्यता सकामता को भी बचा लेती है 58. सुदामदेव का दृष्टांत 59. भक्त को सब बातों में ईश्वर-कृपा ही दिखायी देती है 60. अनन्य भक्त की सकामता व्यापक सद्भावना ही है; एक लौकिक दृष्टांत।

(14) 61. ईश्वर-परायणता ही मुख्य वस्तु है। वासना को भी ईश्वर-परायण बनाओ 62. वासना मूलतः बुरी नहीं है; ईश्वर-परायणता से वासना का रूपान्तर होता है 63. निष्कामता, अनन्यता और ईश्वर-भावना हो तो फिर भौतिक विद्या की उपासना भी पावन हो सकती है।

सातवाँ व्याख्यान

(15) 64. इन्द्रिय-जय के तत्त्वज्ञान की प्रस्तावना : विषय-चिन्तन से बुद्धिनाश तक की व्यतिरेक-परम्परा 65. विषय-चिन्तन से संग और संग से काम पैदा होता है 66. फिर काम से क्रोध उत्पन्न होता है : इस विषय में भाष्यकारों के स्पष्टीकरण 67. एकनाथ की एतद्विषयक युक्ति 68. 'क्रोध' शब्द से यहाँ 'क्षोभ' समझना है 69. 'क्रोध' यानी क्षोभ अर्थात् चित्त की अप्रसन्नता 70. कामना से चित्त-क्षोभ क्यों होता है?

(16) 71. क्रोध से मोह होता है, अर्थात् बुद्धि भोथरी होती है 72. मोह से स्मृति-भ्रंश होता है, अर्थात् यह होश नहीं रहता कि हम कौन हैं 73. 'भान मिटता है', इसका अर्थ क्या है? 74. स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश।

आठवाँ व्याख्यान

(17) 75. पिछले विवेचन का सार : बुद्धि-नाश ही विनाश की अंतिम सीढ़ी 76. गीता को शब्दों के सूक्ष्म अर्थ ही अभिप्रेत हैं 77. स्मृति बनाम स्मरण-शक्ति 78. आत्म-स्मृति के अभाव में संस्कार-पराधीनता 79. गीता-श्रवण का फलित मोह-नाश और तज्जन्य स्मृति-लाभ 80. 'मोह-नाश' का अर्थ है, कर्तव्य का खुलासा 81. इसी के अनुषंग में 'क्रोध' शब्द के अर्थ पर विचार 82. 'स्थितोऽस्मि गतसंदेहः' अर्थात् मैं स्थितप्रज्ञ हो गया।

(18) 83. नारद के सुझाव के अनुसार शब्दों के स्थूल अर्थ भी अपनी भूमिका के अनुसार लिये जा सकते हैं 84. बुद्धिनाश-परम्परा के विभाजन का रहस्य : पहले मन पर फिर बुद्धि पर आक्रमण।

नौवाँ व्याख्यान

(19) 85. स्थिर बुद्धि की परम्परा का आरम्भ : राग-द्वेष छोड़कर इन्द्रियों का उपयोग करनेवाला प्रसाद पाता है 86. दोनों परम्पराओं की मुख्य सीढ़ियां : बीज, शक्ति और फलित 87. 'प्रसाद' शब्द के अर्थ

के बारे में भ्रम 88. वस्तुतः 'प्रसाद' का अर्थ है प्रसन्नता अर्थात् स्वास्थ्य 89. प्रसन्नता से सब दुःख सदा के लिए मिट जाते हैं, क्योंकि दुःखमात्र मनोमल का परिणाम है।

(20) 90. प्रसन्नता से स्थिर बुद्धि सहज साध्य 91. शिशु का दृष्टान्त 92. 'समाधि' यानी मूल स्थिति, उसे बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं 93. चित्त-शुद्धि हुई कि समाधि लगी 94. फिर भी तात्कालिक उपाय के रूप में बाह्य साधन भी उपेक्षायोग्य नहीं।

दसवाँ व्याख्यान

(21) 95. बुद्धि-नाश की अनर्थकारिता बताने के निमित्त जीवन के पांच मूल्यों का अवतरण 96. सर्वाधार संयम : संयम के बिना बुद्धि नहीं 97. आगे का अध्याहार : बुद्धि के बिना भावना नहीं।

(22) 98. अध्याहार की खूबी : बुद्धि से भावना अलग नहीं; परिनिष्ठित बुद्धि ही भावना है 99. परिनिष्ठित बुद्धिरूप भावना के उदहरण 100. प्रगत समाज में अनेक भावनाएँ घुली हुई रहती हैं; उन्हीं से समाज में शान्ति रहती है 101. परन्तु समाज में पगी हुई भावना सर्वथा बुद्धियुक्त ही होती हो, सो बात नहीं। अत: भावना के कुशल संशोधन की आवश्यकता 102. संशोध्य भावना का एक उदाहरण : मांसाहार-निवृत्ति 103. दूसरा उदाहरण : अन्नदान-सम्बन्धी श्रद्धा 104. स्थिर प्रज्ञा पर ही निर्मित भावना शान्तिदायी 105. अतः स्थितप्रज्ञ का नेतृत्व स्वीकारना चाहिए।

ग्यारहवाँ व्याख्यान

(23) 106. 'भावना' शब्द का और थोड़ा विचार 107. बुद्धि-प्रधानता बनाम भावना-प्रधानता यह भेद स्थितप्रज्ञ में नहीं रहता 108. बुद्धि को भावना में परिणत करने के उपाय : जप, ध्यान तथा आचरण 109. 'भावना' का अर्थ 'भक्ति' भी हो सकता है। भक्ति के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं। (24) 110. परन्तु 'सुख' का अर्थ 'मन का सुख' नहीं। मन का सुख भिन्न है, मनुष्य का सुख भिन्न है 111. होनेपन का सुख ही सच्चा सुख : वही सतत रुचियुक्त सुख 112. कुंभक का उदाहरण 113. आत्म- सुखानुभूति का व्यवहार से विरोध नहीं है। आत्मबोध बाह्य उद्योगों में खर्च न होने देना पर्याप्त है। 114. आत्मबोध को खंडित न होने देने की युक्ति : पहले क्षण आघात का असर न होने दें।

बारहवाँ व्याख्यान

(25) 115. इन्द्रियों के पीछे जानेवाला मन बुद्धि को भी खींच ले जाता है। इसलिए संयम की आवश्यकता 116. बुद्धि नौका की तरह तारक, परन्तु मन की पकड़ में आ जाये तो वही मारक हो जाती है 117. बुद्धि और मन सदा के लिए अलग नहीं हो सकते। या तो बुद्धि मन के वश में हो जायेगी, या मन बुद्धि के वश में रहेगा। दूसरी बात श्रेयस्कर।

(26) 118. ज्ञानदेव का विशिष्ट निर्देश : ज्ञानी के लिए भी असावधान होकर इन्द्रियों को खुला छोड़ देने की गुंजाइश नहीं 119. वस्तुतः ज्ञानी नियम से नहीं, स्वभाव से संयमी रहता है 120. ज्ञानी तो क्या, साधक को भी संयम भाररूप नहीं होता 121. स्थितप्रज्ञ के लिए असंयम अशक्य : क्योंकि स्थिर बुद्धि का तो आधार ही संयम है 122. सावधानता की अपेक्षा न रखनेवाली सहजावस्था एक प्रकार से मानवीय आकांक्षा मात्र है; अतः सावधानी का संकेत हर हालत में उचित ही है।

(27) 123. इस तरह संयम की आवश्यकता आदि से अंत तक सिद्ध हुई, अतः निगमन।

तेरहवाँ व्याख्यान

(28) 124. अन्तिम विभाग : स्थितप्रज्ञ की स्थिति का खुलासा 125. खुलासे का पहला सांकेतिक श्लोक; इनकी रात सो उसका दिन, और उसकी रात सो इनका दिन 126. अर्थात् स्थितप्रज्ञ की कुल जीवन-दृष्टि ही दूसरों से विपरीत होती है 127. भोजन का उदाहरण 128. नींद का उदाहरण 129. सामान्य व्यवहार में यही स्थिति।

(29) 130. इस रूपक की भाषा में सांख्य-बुद्धि, योग-बुद्धि और स्थितप्रज्ञ के लक्षण, तीनों एक में लपेट दिये हैं 131. सांख्य-बुद्धि का स्वरूप : आत्मा का अकर्तापन। तदनुसार प्रस्तुत श्लोक का पहला अर्थ 132. योग-बुद्धि का स्वरूप : फल-त्याग 133. आनुषंगिक चर्चा—'मा फलेषु' का यह अर्थ कि फल का अधिकार नहीं, गलत है 134. फल का अधिकार है, पर उसे छोड़ देना है 135. नीति-शास्त्र की भूमिका : जिसका कर्म, उसी को फल 136. योग-बुद्धि की भूमिका उससे ऊँची : तदनुसार इस श्लोक का दूसरा अर्थ 137. स्थितप्रज्ञ के लक्षणानुसार इस श्लोक का तीसरा अर्थ 138. गीता के श्लोक में तीनों अर्थों के सकेत।

चौदहवाँ व्याख्यान

(30) 139. खुलासे का दूसरा सांकेतिक श्लोक : ज्ञानी समुद्र की तरह सब काम पचा जाता है 140. 'काम' शब्द के अर्थ की छानबीन 141. स्थितप्रज्ञ सब काम पचा लेता है, यह उसके ज्ञान का गौरव है।

(31) 142. ज्ञान के गौरव और ज्ञान के स्वरूप के बीच में उसका नीति-सूत्र है 143. बीच में यानी कहाँ? यह समाज की भूमिका पर अवलम्बित रहेगा 144. ज्ञानी के नीति-सूत्रों के सम्बन्ध में ग्रांथिक कल्पना अनर्थकारक।

(32) 145. इस श्लोक को देखने की दूसरी दृष्टि : स्थितप्रज्ञ भावावस्था में सब शुभ देखता है 146. शुभ + अशुभ = शुभ, क्योंकि अशुभ = 0 147. अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण मिथ्य। केवल एक शुभ सत्य : यह है भावावस्था।

पन्द्रहवाँ व्याख्यान

(33) 148. स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का उपसंहार : स्थितप्रज्ञ को कोई कामना नहीं, जिजीविषा नहीं 149. मुमूर्षा भी नहीं, मरण की भीति भी नहीं 150. जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति। उसके जाते ही जीवन आनन्दमय हो जाता है 151. 'चरति' पद द्वार यही सूचित किया है।

(34) 152. 'चरति' का अर्थ 'विषयान् चरति' नहीं 153. 'चरति' का अर्थ आश्रम-संन्यास नहीं 154. 'चरति' यानी विहार करता है। ज्ञानदेव की भाषा में 'विचरे विश्व होउनी। विश्वामाजी' 155. कामना और जीवनाभिलाषा छूटने पर अब शरीर बाकी रहा, सो केवल उपकारार्थ 'निर्ममो निरहंकारः' पद से यही भाव सूचित किया है।

(35) 156. पूर्वोक्त भावावस्था और क्रियावस्था से भिन्न स्थितप्रज्ञ की यह ज्ञानावस्था केवल अवर्णनीय 157. भावावस्था में समग्रता है 158. क्रियावस्था में विवेक है 159. तीनों अवस्थाएं मिलाकर स्थितप्रज्ञ ही एक ही अखण्ड वृत्ति।

सोलहवाँ व्याख्यान

(36) 160. स्थितप्रज्ञ की तिहरी अवस्था के मूल में ईश्वर का त्रिविध स्वरूप 161. ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ 162. दूसरा, विश्वरूप 163. तीसरा, शुभाशुभ से परे ब्रह्म-संज्ञित 164. गीता की

परिभाषा में 'सत्', 'सद्सत्' 'न सत् नासत्' 165. तर्क के सद्सत् की चार कोटियां हो सकती हैं, उनमें से तीन ही ईश्वर पर चरितार्थ होती हैं।

(37) 166. ईश्वर का और तदनुसार स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह त्रिविध स्वरूप 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये" श्लोक में सूचित है 167. इसी का और अधिक स्पष्टीकरण 168. बाह्य जीवनाकार में भेद दिखायी देने पर भी सभी स्थितप्रज्ञों को तीनों अवस्थाओं का अनुभव होता है।

(38) 169. ये अवस्थाएं परस्पर-संबद्ध, परस्पर-उपकारक ही हैं, 170. इस विषय में सनातनियों की तर्क-प्रणाली भ्रमपूर्ण है 171. क्रियावस्था पर भावावस्था का प्रभाव : सोने की अँगूठी और सभा के अध्यक्ष का दृष्टांत 172. भावावस्था पर क्रियावस्था का प्रभाव : कुष्ठरोगी-सेवा का दृष्टान्त।

सत्रहवाँ व्याख्यान

(39) 173. भाव द्वारा क्रिया का नियमन होता है, इसका अधिक विवरण 174. वही बात ज्ञान के द्वारा भी। उसी से निष्काम कर्मयोग का जन्म होता है 175. 'मुक्त का चिन्तन करते-करते स्वयं ही मुक्त होते हैं।' अतः स्थितप्रज्ञ की अवस्था का ज्ञान साधक और समाज के लिए आवश्यक।

(40) 176. स्थितप्रज्ञ की त्रिसूत्री 'ॐ तत् सत्' द्वारा सूचित 177. पहला पद ॐ : 'ॐ' शब्द भावावस्था की लब्धि के लिए भावनीय है 178 'ॐ' अक्षर वर्ण-मात्र का प्रतीक है 179. 'ॐ' की व्युत्पत्ति : 'ॐ' एक धातुरूप है 180. दूसरा पद 'तत्' : ज्ञानावस्था की प्राप्ति के लिए चिंतनीय 181. तीसरा पद 'सत्': क्रियावस्था की सिद्धि के लिए सेवनीय 182. कुल मिलाकर 'ॐ तत् सत्' यह मंत्र व्यापक, अलिप्त और परिशुद्ध जीवन का वाचक है। वही किसी भी पूर्ण विचार का स्वरूप है 183. सत्याग्रह का उदाहरण 184. यही बात सारे जीवन पर लागू होती है।

(41) 185. उपसंहार : अर्जुन के प्रश्न का आकार और उसके अनुसार स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का प्रवाह।

अठारहवाँ व्याख्यान

(42) 186. स्थितप्रज्ञ-लक्षणों की अनुभवसिद्ध फलश्रुति 187. 'स्थिति' शब्द की खूबी 188.आत्मज्ञान और ध्यान-समाधि का भेद : ध्यान उतर जाता है 189. आत्मज्ञान, ध्यान और अन्य ज्ञान में भेद : अन्य ज्ञान भाररूप 190. आत्मज्ञान, ध्यान और अन्य ज्ञानों का अधिक विवरण 191. ब्राह्मी स्थिति अंतकाल

में भी टिकती है 192. ब्राह्मी स्थिति में 'अगर-मगर' के लिए अवकाश नहीं है 193. शंकराचार्य का विशेष अर्थ उपयुक्त, लेकिन अनावश्यक।

(43) 194. गीता का परम लक्ष्य 'ब्रह्म-निर्वाण'। वही जीवन की सफलता 195. 'ब्रह्म-निर्वाण' का अर्थ है-देह को फेंककर व्यापकतम होना 196. इसी स्थिति में लोकसंग्रह परिपूर्ण होता है 197. वहाँ देह नहीं है, क्योंकि देह की आवश्यकता नहीं है।

(44) 198. बौद्धों ने निषेधक शब्द 'निर्वाण' ले लिया 199. वैदिकों को 'ब्रह्म-निर्वाण', यह विधायक भाषा मधुर प्रतीत हुई 200. वस्तुत: दोनों एक ही हैं।

परिशिष्ट- १

परिशिष्ट- २

स्थितप्रज्ञ-लक्षण

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किं आसीत व्रजेत किम्।।

अर्जुन ने कहा

स्थितप्रज्ञ समाधिस्थ कहते कृष्ण हैं किसे?

स्थितधी बोलता कैसे? बैठता और डोलता?

श्री भगवान् उवाच

1. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।

आत्मनि एव आत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञः तदा उच्यते।।

श्रीभगवान् ने कहा

1. मनोगत सभी काम तज दे जब पार्थ जो,

आपमें आप हो तुष्ट, सो स्थितप्रज्ञ है तभी।

2. दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीः मुनिः उच्यते।।

2. दुःख में जो अनुद्विग्न, सुख में नित्य निःस्पृह,

वीतराग-भय-क्रोध, मुनि है स्थितधी वही।

3. यः सर्वत्र अनभिस्नेहः तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम्।

न अभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

3. जो शुभाशुभ को पाके न तो तुष्ट न रुष्ट है,

सर्वत्र अनभिस्नेही, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा।

4. यदा संहरते च अयं कूर्मः अंगानि इव सर्वशः।।

इंद्रियाणि इंद्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

4. कूर्म ज्यों निज अंगों को, इन्द्रियों को समेट ले,

सर्वशः विषयों से जो, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा।

5. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्जं रसः अपि अस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।

5. भोग तो छूट जाते हैं निराहारी मनुष्य के,

रस किन्तु नहीं जाता, जाता है आत्म-लाभ से।

6. यततः हि अपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः।

इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरिन्त प्रसभं मनः।।

6. यत्नयुक्त सुधी की भी इन्द्रियां ये प्रमत्त जो,

मन को हर लेती हैं अपने बल से हठात्।

7. तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

7. इन्हें संयम से रोके, मुझी में रत, युक्त हो,

वशे हि यस्य इन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

इन्द्रियां जिसने जीतीं, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा।

8. ध्यायतो विषयान् पुंसः संगः तेषु उपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधः अभिजायते।।

8. भोग-चिन्तन होने से होता उत्पन्न संग है,
संग से काम होता है, काम से क्रोध भारत।

9. क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।

9. क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृतिविभ्रम,
उससे बुद्धि का नाश, बुद्धिनाश विनाश है।

10. रागद्वेषवियुक्तैः तु विषयान् इंद्रियैः चरन्।
आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसादं अधिगच्छति।।

10. रागद्वेष-परित्यागी करे इंद्रिय-कार्य जो,
स्वाधीन वृत्ति से पार्थ, पाता आत्मप्रसाद सो।

11. प्रसादे सर्वदुःखानां हानिः अस्य उपजायते।
प्रसन्नचेतसो हि आशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।

11. प्रसाद-युक्त होने से छूटते सब दुःख हैं,
होती प्रसन्नचेता की बुद्धि सुस्थिर शीघ्र ही।

12. न अस्ति बुद्धिः अयुक्तस्य न च अयुक्तस्य भावना।
न च अभावयतः शांतिः अशांतस्य कुतः सुखम्।।

12. नहीं बुद्धि अयोगी के, भावना उसमें कहां?
अभावन कहां शांत? कैसे सुख अशांत को?

13. इंद्रियाणां हि चरतां यत् मनः अनुविधीयते।
तद् अस्य हरति प्रज्ञां वायुर् नावं इव अंभसि।।

13. मन जो दौड़ता पीछे इंद्रियों के विहार में,
खींचता जन की प्रज्ञा, जल में नाव वायु ज्यों।

14. तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इंद्रियाणी इंद्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

14. अतएव महाबाहो, इंद्रियों को समेट ले,
सर्वथा विषयों से जो, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा।

15. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।

15. निशा जो सर्व भूतों की, संयमी जागते वहां,
जागते जिसमें अन्य, वह तत्त्वज्ञ की निशा।

16. आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं समुद्रं आपः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे सः शान्तिं आप्नोति न कामकामी।।

16. नदी-नदों से भरता हुआ भी समुद्र है ज्यों स्थिर सुप्रतिष्ठ,

त्यों काम सारे जिसमें समावें, पाता वहीं शांति, न काम-कामी।

17. विहाय कामान् यः सर्वान् पुमान् चरति निःस्पृहः।

निर्ममो निरहंकारः स शांतिं अधिगच्छति।

17. सर्व-काम परित्यागी विचरे नर निःस्पृह,

अहंता-ममता-मुक्त, पाता परम शांति सो।

18. एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ न एनां प्राप्य विमुह्यति।

स्थित्वा अस्यां अंतकाले अपि ब्रह्मनिर्वाणं ऋच्छति।।

18. ब्राह्मी स्थिति यही पार्थ, इसे पाके न मोह है,

टिकती अंत में भी है, ब्रह्मनिर्वाण-दायिनी।

(गीता 2.54 से 2.72)

प्राज्ञ-सूत्राणि

[स्थितप्रज्ञ-दर्शन का विवेचन 7 अधिकरण, १8 व्याख्यान, 44 खंड और 200 परिच्छेदों में विभाजित है। इनमें से 7 अधिकरण और 44 खंडों को विनोबाजी ने 'प्राज्ञ-सूत्राणि' नाम से सूत्रबद्ध किया है। इन सूत्रों में हम स्थितप्रज्ञ-दर्शन का पूरा विवेचन नख-दर्पण में देख सकते हैं।

मुख्य सात अधिकरणों के सामने के आंकड़े सूचित करते हैं।-संपा.]

1. प्राज्ञाधिकरणम्	**1 - 3**	23. भावनापरिणति: शांतिसुखम्	
1. अथातः प्राज्ञजिज्ञासा		24. तत्तु सच्चित्सुखं केवलम्	
2. समाधिस्थो वृत्तिशून्यः		25. इंद्रियानुचरं मनः प्रज्ञाहरम्	
3. अवक्रो, निष्कंपः		26. ज्ञानदेवस्य विशिष्टा सूचना	
4. त्यक्तकामस्तुष्ट:		27. तत्त्वज्ञानेन निगमनम्	
5. त्यागप्रक्रिया चतुर्विधा		**5. विहाराधिकरणम्**	**13-15**
6. उत्तरोत्तर-सुलभ-साधनानि		28. लोकविपरीता जीवनदृष्टि:	
7. संयमः सुलभतमो द्विविधः		29. तस्याश्च शास्त्रीयोऽर्थ:	
2. रसनिवृत्त्यधिकरणम्	**4 - 6**	30. सर्वकामप्रवेशो गौरवम्	
8. संयमस्य पूर्णता रस-निवृत्तिः		31. गौरव-स्वरूपयोर् मध्ये नीतिसूत्रम्	
9. सा तु कठिना		32. भावावस्थेयं भावनीया	
10. तदर्थ भकत्याश्रयः		33. मुक्तकामो निःस्पृहश्चरति	
11. सांसारिकाण्यप्रार्थनीयानि		34. विहारवाचकश् 'चरतिः'	
12. भक्तिः स्वतंत्रा		35. अनिर्वचनीया ज्ञानावस्था	

13. त्रायते कामनास्वपि		**6. विवरणाधिकरणम्**	**16-17**
14. वासना ईश्वरेऽर्पणीयाः		36. ईश्वरस्येव ज्ञानिनोऽपि त्रैविध्यम्	
3. परिणामाधिकरणम्	**7 - 9**	37. एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधेत्युक्तम्	
15. संगादि-त्रिकं प्रणाशस्य पूर्वरूपम्		38. अवस्थात्रयमन्योन्यसंपृक्तम्	
16. संमोहाद्युत्तरूपम्		39. मुक्तस्वरूपनिर्धारणं लाभाय	
17. शब्दानां सूक्ष्मार्था अभिप्रेताः		40. सदोंतदिति सूत्रितम्	
18. नारदवत् स्थूला अपि ग्राह्याः		41. प्रश्नाकारावलोकनं प्रबोधार्थम्	
19. जितेन्द्रियस्य प्रसादलब्धिः		**7. विमुक्त्यधिकरणम्**	**18**
20. प्रसादपरिणामः समाधिः		42. ब्राह्मीस्थितिर् जीवन्मुक्तिः	
4. पंचरत्न्यधिकरणम्	**10-12**	43. ब्रह्मनिर्वाणं विदेहमुक्तिः	
21. भावना-केंद्रिता पंचरत्नी		44. संवाद-युक्तिः शब्दात्,	
22. लोकभावनाः संग्राह्याः संशोध्याश्च		संवाद-युक्तिः शब्दात्	

1. प्राज्ञाधिकरणम्

पहला व्याख्यान

1

1. गीता में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का विशेष स्थान

'स्थितप्रज्ञ के लक्षण' गीता का अतिशय प्रसिद्ध विभाग है। अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर आज तक इतनी प्रसिद्धि प्रायः गीता के किसी भी दूसरे विभाग को नहीं मिली होगी। इसका कारण है। 'स्थितप्रज्ञ' गीता का आदर्श पुरुषविशेष है। यह शब्द भी गीता का खास शब्द है। गीता के पूर्ववर्ती ग्रंथों में वह नहीं मिलता। गीता के बाद के ग्रंथों में वह खूब मिलता है। स्थितप्रज्ञ की तरह गीता में आदर्श पुरुषों के और भी वर्णन हैं। कर्मयोगी, जीवन्मुक्त, योगारूढ़, भगवद्भक्त, गुणातीत, ज्ञाननिष्ठ इत्यादि अनेक नामों से अनेक आदर्श चित्र भिन्न-भिन्न स्थानों पर आये हैं। परन्तु इन आदर्शों को औरों ने भी उपस्थित किया है। गीता में ये आदर्श भिन्न-भिन्न साधना के वर्णन के सिलसिले में उपस्थित किये गये हैं। वे स्थितप्रज्ञ से कोई भिन्न पुरुष हैं, ऐसी बात नहीं। 'स्थितप्रज्ञ' के ही वे अनेक पहलू हैं। उन सबके वर्णन में स्थितप्रज्ञ के लक्षण गीता ने प्रायः कहीं-न-कहीं गूँथ ही दिये हैं। जैसे—पाँचवें अध्याय में संन्यासी अथवा योगी पुरुष के वर्णन में **स्थिर-बुद्धिः** शब्द प्रयुक्त हुआ है। बारहवें अध्याय में भक्त के लक्षणों की समाप्ति **स्थिरमतिः** शब्द द्वारा की है। बुद्धि की स्थिरता हुए बिना कोई भी आदर्श पूर्ण नहीं होता। इसीलिए यह प्रकरण इतना महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जीवन-मुक्ति की सिद्धि के लिए सबूत पेश करते हुए भाष्यकार (शंकराचार्य) ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण उपस्थित किये हैं। अन्तिम आदर्श का, ध्येयमूर्ति का, साधक की दृष्टि से इतना सविस्तार विवेचन यह एक ही है।

2. पूर्व-भूमिका : सांख्य-बुद्धि व योग-बुद्धि

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को समझने के लिए उसके पहले की भूमिका का विचार कर लेना उपयोगी होगा। यह प्रकरण गीता के दूसरे अध्याय के अन्त में आया है। इसके पहले विवेचन के दो भाग आ गये हैं। (1) सांख्य-बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान, अथवा ब्रह्मविद्याशास्त्र और (2) योग-बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान के अनुसार जीवन की कला। शास्त्र तथा कला मिलकर ब्रह्मविद्या परिपूर्ण बनती है। किसी भी विद्या

पर यह बात लागू होती है। संगीतविद्या को ही लें। किसी ने संगीत-शास्त्र तो सीख लिया, परन्तु कंठ से व्यक्त करने की कला नहीं सधी, तो वह संगीत किस काम आयेगा ? इसके विपरीत, गले में कला तो है, परन्तु शास्त्र-ज्ञान नहीं, तो फिर प्रगति का मार्ग कुंठित हुआ समझिए। वही स्थिति अध्यात्म-विद्या की, अर्थात् मनुष्य के जीवन की है। मनुष्य का तत्त्वज्ञान उसकी बुद्धि में गुप्त रहेगा, प्रकट होगा उसका आचरण। उसके आचरण से ही उसके तत्त्वज्ञान का नाप संसार को तथा उसको भी मालूम होगा। आचरण और ज्ञान में अन्तर भले ही रहे, पर विरोध हरगिज नहीं रहना चाहिए और अंतर भी सतत कम करते रहना चाहिए। यह काम योग-बुद्धि का है। तुलसीदासजी ने संतों[1] को लक्ष्य करके एक त्रिवेणी की कल्पना की है। भक्ति-गंगा, कर्मयोग-यमुना, इस तरह उपमाएं देकर ब्रह्मविद्या को उन्होंने गुप्त सरस्वती का स्थान दिया है। इस उपमा के द्वारा उन्होंने यह सूचित किया है कि ब्रह्मविद्या सदैव सरस्वती की तरह अव्यक्त ही रहनेवाली है। उसे योग-बुद्धि प्रकट करेगी। साधक को प्रत्यक्ष मार्गदर्शन योग-बुद्धि करती है। सांख्य-बुद्धि, योग-बुद्धि की बुनियाद जैसी है। बुनियाद के बिना घर नहीं बन सकता, बिना घर के बुनियाद बेकार है। दियासलाई में आग अव्यक्त स्वरूप में रहती है। दियासलाई रगड़ने से वह प्रकट होती है। अव्यक्त बिजली का कार्य सूक्ष्म बुद्धि ही जान सकती है। वही जब व्यक्त हो जाती है, तब उसकी सामर्थ्य हर किसी को दिखायी देता है। सांख्य-बुद्धि और योग-बुद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध ऐसा है।

---

1. मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू।।
   रामभक्ति जहं सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा ||
   बिधि निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रविनंदनी बरनी

3. योग-बुद्धि की आखिरी मंजिल : स्थिर समाधि अर्थात् स्थितप्रज्ञता

योग-बुद्धि का पहला स्वरूप है कर्तव्य-निश्चय। कर्तव्य-निश्चय हुए बिना साधना आरम्भ ही नहीं होती। निश्चय के बाद एकाग्रता, अर्थात् साधना में तन्मयता, फल पर ध्यान न देते हुए साधना में लीन हो जाने की वृत्ति, साधनैकशरणता अथवा साधन-निष्ठा। यह दूसरी मंजिल है। उसके आगे की मंजिल है चित्त की निर्विकार दशा अथवा समता, अर्थात् समाधि। वही जब स्थिर, अचल हो जाती है, किसी भी

झोंके से जब डगमगाती नहीं है, तो स्थितप्रज्ञावस्था प्राप्त होती है। जिस पर विकारों की, विचारों की, बल्कि वेद-वचनों की भी सत्ता शेष नहीं रही है; जिसकी समाधि अचल हे, स्थिर हो गयी है, वह स्थितप्रज्ञ है। इस तरह योग-बुद्धि की ये चार मंजिलें हैं : (1) साधन-निश्चय, (2) फल-निरपेक्ष एकाग्रता, (3) समता अथवा समाधि और (4) स्थिर-समाधि—अखंड, निश्चल और सहज। यही स्थितप्रज्ञावस्था है।

4. तद्विषयक जिज्ञासा

भगवान् के इस विवेचन से कि योग-बुद्धि का अन्तिम परिपाक स्थिर समाधि में, स्थितप्रज्ञता में होता है, अर्जुन के हाथ प्रश्न-बीज लगा। इसलिए उन्हीं शब्दों को पकड़कर उसने यह जानने के लिए कि स्थितप्रज्ञ कैसा होता है, पूछा :

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

ऐसे स्थितप्रज्ञ का लक्षण क्या है? वह कैसे बोलता है, कैसे रहता है, कैसे फिरता है, यह सब मुझे बताइए। इसके उत्तर में भगवान् ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये हैं, जो कि हमारी चर्चा का विषय है।

2

5. दुहरी समाधि : वृत्तिपरक तथा स्थितिपरक

भगवान् के विवेचन का विचार करने से पहले यहाँ 'समाधि' शब्द को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, क्योंकि इस शब्द से बहुत ही भ्रम पैदा हुआ है। समाधि का आमतौर पर अर्थ किया जाता है ध्यानसमाधि। यदि कोई आदमी समाधि में है, यानी जिस बात का वह चिंतन कर रहा है उसके अलावा उसे दूसरा कोई भी संवेदन नहीं होता, तो फिर अर्जुन का यह प्रश्न ही उड़ जाता है कि समाधिस्थ पुरुष बोलता कैसे है, चलता कैसे है, फिरता कैसे है? इस कठिनाई को देखकर कुछ भाष्यकारों ने स्थितप्रज्ञ-अवस्था के दो विभाग कर डाले हैं : (1) समाधि में रहते हुए स्थितप्रज्ञ कैसे बरतता है और (2) समाधि में न रहते हुए कैसे बरतता है—इस तरह दुहरा विवेचन किया है। इस विवेचन में कल्पकता तो है, परन्तु इसमें विचारदोष है। इसमें इस बात का ध्यान नहीं है कि गीता प्रतिपादित इस जगह की समाधि भिन्न प्रकार की है। चढ़ने-उतरनेवाली समाधि ध्यान-समाधि है। स्थितप्रज्ञ की समाधि इससे भिन्न है। वह

ज्ञान-समाधि है। वह न चढ़ती है न उतरती है। **नैनां प्राप्त विमुह्यति** इस तरह उसका वर्णन किया गया है, अर्थात् वह एक स्थिति है, वृत्ति नहीं। ध्यान-समाधि एक वृत्ति है। चार-चार दिन टिक जाने पर भी उसके उतरने की अपेक्षा रहती है। यह वैसी समाधि नहीं है।

6. स्थितप्रज्ञ की समाधि वृत्ति नहीं है

स्थितप्रज्ञ की समाधि वृत्ति नहीं है, वह निवृत्ति है। 'निवृत्ति' शब्द से लोग घबराते हैं। वे कहते हैं—"यह तो खामोश होकर बैठ जाना है", परन्तु यह ठीक नहीं है। आखिर खामोश बैठना भी एक वृत्ति ही है। स्थितप्रज्ञ में वह वृत्ति भी नहीं है। वह सब तरह से निवृत्त है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह ध्यान नहीं करेगा। किसी सेवा-कार्य का चिन्तन करने के लिए, अथवा फुरसत के समय में, वह कुछ समय ध्यानादि करेगा, परन्तु वह उसका लक्षण नहीं है। उसका लक्षण तो है स्थिर बुद्धि। कर्मयोग जैसे एक उपयोगी साधन है, वैसे ध्यान भी उपयोगी साधन है, परन्तु कर्मयोग की तरह ही ध्यान भी स्थितप्रज्ञ की स्थिति नहीं है।

7. इस विषय में गीता और योग-सूत्रों की एकवाक्यता

पतंजलि के योगशास्त्र के कारण 'समाधि' शब्द का अर्थ, 'ध्यान-समाधि' रूढ़ हो गया है। परन्तु पतंजलि ने भी 'ध्यान-समाधि' को अन्तिम स्थिति नहीं माना है। पतंजलि के सूत्र सुव्यवस्थित एवं अनुभव पर आधारित शास्त्र है। उनके कुल 195 सूत्रों में पहले तीन सूत्र सारभूत हैं। ब्रह्मसूत्र की चतुःसूत्री की तरह योगसूत्र में यह त्रिसूत्री है - **(1) अथ योगानुशासनम् (2) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (3) तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्।** इन तीन सूत्रों में सारा शास्त्र थोड़े में समाप्त हो गया है। परन्तु इसमें समाधि का तो कहीं नाम भी नहीं आया है। प्राप्तव्य तो योग है, और 'चित्तवृत्तिनिरोध' उसकी व्याख्या है। समाधि अर्थात् ध्यान-समाधि भी एक वृत्ति ही है और उसका उपयोग पतंजलि ने वृत्ति-निरोधरूपी योग की लब्धि के लिए शिरोमणि साधन के तौर पर बताया है। **श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वक**, यह उनकी योग पर चढ़ने की सीढ़ी है। आरम्भ में श्रद्धा, उससे वीर्य अर्थात् उत्साह, तत्पूर्वक स्मृति अर्थात् आत्म-स्मरण, तत्परिपाक तन्मयतारूपी ध्यान-समाधि, उससे प्रज्ञा। और प्रज्ञा स्थिर हुई कि वही योग है। इन सीढ़ियों से योग प्राप्त होता है, ऐसा उन्होंने स्पष्ट कहा है, अर्थात् योग की प्राप्ति के

लिए, समाधि के बाद उन्होंने प्रज्ञा बतायी है। यह 'प्रज्ञा' शब्द पतंजलि ने गीता से ही लिया है। अर्जुन के प्रश्न से पूर्व के श्लोक में भगवान् ने कहा है कि समाधि में बुद्धि के अचल हो जाने पर तुझे योग की प्राप्ति होगी। 'योग' ही पतंजलि का अन्तिम शब्द है। उसका साधन उन्होंने प्रज्ञा बताया है और समाधि को प्रज्ञा-लब्धि का साधन बताया है। समाधि का ध्यान-स्वरूप मिटकर जब उसे सदा की सहज स्थिति का स्वरूप प्राप्त होता है, तब वह 'प्रज्ञा' कहलाती है। इस तरह पतंजलि के सूत्रों में तथा गीता के विवेचन में समन्वय है।

3

8. 'स्थित'-प्रज्ञा में कंपन और वक्रता नहीं

स्थितप्रज्ञ की कल्पना में बुद्धिवाद की पराकाष्ठा हो गयी है। बुद्धि, शुद्ध बुद्धि को बोध का साधन माना गया है। राग-द्वेषादि विकारों से अलिप्त बुद्धि ज्ञान का सही साधन हो सकती है। हम कहते हैं कि फलां बात मेरी बुद्धि को नहीं जंचती। गीता कहती है—'मेरी बुद्धि को' मत कह; 'मेरी' विशेषण को छोड़कर केवल शुद्ध बुद्धि क्या कहती है, यह देख! 'मेरे' पन में अहंकार है, विकार है, संस्कारों की गुलामी है, परिस्थिति का बंधन है। तू 'मद्बुद्धिवादी' है या बुद्धिवादी? जब बुद्धि विकाररहित हो जाती है, सब उपाधियों से अलग हो जाती है, तब वह स्थित होती है। स्थित होती है मतलब सीधी तनकर खड़ी रहती है, डगमगाती नहीं, उसमें कंपन नहीं रहता। **सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते**। उसे निष्कंप योग प्राप्त होता है—ऐसा जो आगे दसवें अध्याय में कहा है, उसका अर्थ यही है। बुद्धि में जरा-सा भी कंपन या डगमगाहट, हिचकिचाहट, घबराहट और अनिश्चय नहीं रहना चाहिए। तभी वह बुद्धि काम देगी और उसे तभी 'बुद्धि' कहेंगे। 'स्थित' शब्द का दूसरा अर्थ है 'सरल'। बुद्धि बिलकुल सीधी होनी चाहिए। उसमें जरा भी वक्रता नहीं होनी चाहिए। चरखे के तकुए में, महीन सूत कातते वक्त, जरा भी टेढ़ापन नहीं चल सकता। बिलकुल सीधा होने पर ही वह काम देता है। यही हाल बुद्धि का है। चरखे का सीधा तकुआ स्थित-प्रज्ञ की बुद्धि के लिए उत्तम उपमा है। सीधे तकुए को अंग्रेजी में 'टू' कहते हैं। इस शब्द में बड़ी खूबी है। जिस तकुए में जरा भी वक्रता न हो उसे 'टू' अर्थात् 'अचूक' कहते हैं। इसी तरह बुद्धि 'टू' अर्थात् अचूक होनी चाहिए।

9. कंपन और वक्रता का अधिक विश्लेषण

कंपन और वक्रता, दोनों का थोड़ा पृथक्करण कर लेना चाहिए। वस्तुतः ये दोनों मिलकर एक ही दोष हैं। चरखे के तकुए से यह बात समझ में आ जाती है। जो तकुआ टेढ़ा होता है, वही कांपता है। यही बात बुद्धि की है। सीधी बुद्धि कभी नहीं कांपती। इस तरह कंपन और वक्रता, दोनों के एकरूप होने पर भी विचार की दृष्टि से उनका पृथक्-पृथक् अर्थ ग्रहण करना चाहिए। सूक्ष्म दृष्टि से देखें, तो कंपन मुख्यतः बुद्धि का और वक्रता मन का दोष है। मन एक तरह से बुद्धि का ही हिस्सा है, तो भी विचार की सुविधा के लिए उसे बुद्धि से अलग कर लिया जाता है। छोटे बच्चे का मन बिलकुल सरल होता है, अतः वह बड़ी तेजी से ज्ञान ग्रहण कर सकता है। इसलिए ज्ञान-दृष्टि से ऋजुता को सबसे महत्त्वपूर्ण गुण समझना चाहिए। बिना ऋजुता के निश्चित और निष्कंप ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। 'अर्जुन' शब्द का अर्थ भी मूल में 'ऋजु बुद्धिवाला' है।

10. बुद्धि और प्रज्ञा का भेद

गीता का 'प्रज्ञा' शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है। 'बुद्धि' शब्द सामान्य है। बुद्धि मनुष्य के मनोविकारों के अनुसार बदलनेवाली होती है। मनुष्य की मानसिक कल्पनाओं के रंग बुद्धि पर चढ़ते हैं। यह रंगीन बुद्धि अचूक निर्णय करने का कार्य नहीं कर सकती। जिस बुद्धि पर मानसिक कल्पनाओं का, विकारों का, पसंदगी-नापसंदगी का, वृत्तियों का रंग चढ़ा हुआ नहीं होता, जो केवल ज्ञान का कार्य करती है, वह 'प्रज्ञा' है। प्रज्ञा तटस्थ होती है। वह ठीक वस्तु-स्वरूप ध्यान में लेकर निर्णय दिया करती है। जब बुद्धि पर रंग चढ़ जाता है, जो एक ही बुद्धि की अनेक बुद्धियां बन जाती हैं। दया का रंग चढ़ जाने पर दया-बुद्धि, द्वेष का रंग चढ़ जाने पर द्वेष-बुद्धि। इस प्रकार की अनेक बुद्धियां मनुष्य को चारों ओर खींचने का, त्रस्त करने का, व्याकुल करने का, जर्जर करने का काम अलबत्ता करती रहती हैं। ऐसी हजार बुद्धियां मार्गदर्शन करने में बेकार हैं। शुद्ध बुद्धि, अर्थात् प्रज्ञा ही ठीक निर्णय देती है, क्योंकि उसका अपना कोई रंग नहीं होता। वह थर्मामीटर की तरह होती है। स्वयं थर्मामीटर को बुखार नहीं चढ़ा होता, इसी से वह दूसरों के ताप का मापक हो सकता है।

11. शरीर-शक्ति से बुद्धि-शक्ति की विशेषता

बुद्धि किसी के पास कम या ज्यादा हो, इसका महत्त्व नहीं है। महत्त्व स्वच्छ बुद्धि का है। आग की छोटी-सी चिनगारी भी कार्यकारी हो सकती है। वह कपास के ढेर को जला सकती है। इसके विपरीत कोयला बड़ा होने पर भी वह उसमें दब जाता है। प्रश्न बुद्धि के कम या ज्यादा होने का नहीं है। शुद्ध बुद्धि की एक छोटी-सी चिनगारी, एक छोटी-सी ज्योति भी काफी है। बुद्धि की शक्ति की यही खूबी है। शारीरिक शक्ति की बात ऐसी नहीं है। कोई सींकिया पहलवान इस जन्म में गामा बन सकेगा या नहीं, इसमें संदेह हो सकता है। किसी अल्प-बुद्धि मनुष्य के लिए राष्ट्रकार्य-संचालन का नेतृत्व साधना संभव नहीं। परंतु नितांत अल्प-बुद्धि और अशिक्षित मनुष्य भी इस जन्म में निःसंदेह स्थितप्रज्ञ हो सकता है। उसके लिए गठरीभर बुद्धि की जरूरत नहीं है। प्रज्ञा की एक चिनगारी ही काफी है। भारी-भरकम बुद्धि चाहे संसार में कितने ही काम-काज और उथल-पुथल करती रहे, परन्तु त्रिभुवन को भस्म करने का सामर्थ्य तो केवल प्रज्ञा की चिनगारी में ही है।

दूसरा व्याख्यान

4

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

12. समाधि का कुछ और विवेचन

अर्जुन का प्रश्न हमने देखा। प्रज्ञा किसे कहते हैं, समाधि क्या है, इसका भी हमने विचार किया। प्रज्ञा का अर्थ सामान्य बुद्धि नहीं, बल्कि वह बुद्धि है, जिसका झुकाव केवल निर्णय की ओर होता है। यह प्रज्ञा 'स्थित' अर्थात् तनी हुई होनी चाहिए। यानी निश्चित और सीधी। हमने भी यह देख लिया कि 'समाधि' का मतलब ध्यान-समाधि नहीं है। यहाँ 'समाधि' शब्द का थोड़ा और विवेचन करना उपयोगी होगा। 'समाधि' शब्द में 'सम्' और 'आ' उपसर्ग हैं तथा 'धा' धातु है। 'समाधान' शब्द की व्युत्पत्ति भी यही है। चित्त के समाधान की स्थिति यानी समाधि है। समाधान यानी 'समतुलन'। जब तराजू के दोनों पलड़े बिलकुल समान हों, तो कहते हैं कि तराजू समतोल है, तराजू का समाधान है। तराजू की डंडी की तरह चित्त की स्थिति समतोल, अचल और शान्त हो जाये, तो उसका समाधान हो गया। यह समाधि सदा टिकती है, कभी भी भंग नहीं हो पाती। आगे छठे अध्याय में इस स्थिति की उपमा बिलकुल वायुरहित स्थान में जलते हुए दीपक से दी गयी है। इसी को 'दीप-निर्वाण' कहते हैं। 'दीप-निर्वाण' का अर्थ करना चाहिए—दीपक की एक-सी अडोल लौ उठते रहना। 'दीपक का बुझ जाना' ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है। बुझ जाने के बाद की शान्ति, शरीर के रहते हुए प्राप्त नहीं हो सकती। समाधि का मतलब है चित्त की ऐसी शांत स्थिति, जो इसी जीवन में अनुभव की जा सके और जो कभी चलित न हो। इस तरह अर्जुन के प्रश्न का उत्तर इस प्रश्न के 'समाधि' शब्द से ही सूचित किया जा रहा है और वही अब भगवान् ऊपर के श्लोक में व्याख्या करके बता रहे हैं।

13. स्थितप्रज्ञ की समाधि की निषेधक और विधायक मिलाकर पूर्ण व्याख्या

यहाँ समाधि की शास्त्रीय व्याख्या की जा रही है। **उच्यते** शब्द यहाँ व्याख्या का द्योतक है, ऐसा समझना चाहिए। इस श्लोक की व्याख्या समर्पक और सम्पूर्ण है, अर्थात् उसका दुहरा स्वरूप है—

निषेधक और विधायक। इस तरह दुहरी व्याख्या करने पर ही वह पूर्ण होती है। उदाहरण के लिए 'अहिंसा' शब्द को लें। 'हिंसा नहीं करना' यह उसका निषेधक अर्थ हुआ; 'प्रेम करना' यह विधायक अर्थ हुआ। दोनों को मिलाकर अहिंसा की पूर्ण व्याख्या होगी। **प्रजहाति यदा कामान्** यह निषेधक लक्षण और **आत्मन्येवात्मना तुष्टः** यह विधायक स्वरूप हुआ। उभयविध लक्षण सुनिश्चित और सूक्ष्म भाषा में किया गया है।

14. निषेधक व्याख्या : निःशेष कामना-त्याग

'मन की सब कामनाओं को त्याग देना' यह निषेधात्मक लक्षण यहाँ बताया गया है। 'मन' कामनाओं से बना हुआ है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'ऐसा मन ही न रहे'। किसी एक ज्योतिषी की नजर सहज मेरे हाथ पर पड़ गयी। उसने कहा, "तुम्हारे हाथ में तो हृदय की रेखा ही नहीं दिखायी देती।" मैंने कहा, "ऐसा हो तो फिर भगवत्कृपा ही प्राप्त हुई।" मेरी दृष्टि से मनुष्य में केवल बुद्धि ही होनी चाहिए, मन का न होना ही अच्छा है। मन को बुद्धि में विलीन हो जाना चाहिए। मन यानी संकल्प-विकल्प। मन यानी कामनाओं की गठरी। संकल्प-विकल्प या कामनाएं सब ऐसी होनी चाहिए, जो बुद्धि का अनुसरण करें। मन और बुद्धि में अनबन नहीं होनी चाहिए—खींचतान नहीं होनी चाहिए। बस, बुद्धि कहे और मन करे। निर्णय करना बुद्धि का काम है। बुद्धि कानून बनानेवाला महकमा है। मन उस पर अमल करनेवाला महकमा। उसे बुद्धि के क्षेत्र में बिलकुल दखल नहीं देना चाहिए। जिसका काम हो, वही करे। जीभ इतना ही देखे कि लड्डू मीठा लगता है या कड़वा, वह खाने के योग्य है या अयोग्य। लड्डू कितना खायें, सह तय करना उसका काम नहीं। वह इसमें फिजूल ही टांग न अड़ाये। इसी तरह मन को बुद्धि के अनुसार चलना चाहिए। वह धीरे-धीरे बुद्धि में लीन हो जाये। मनरूपी कामनाओं की गठरी में से यदि एक-एक चिथड़ा निकाल डालें, तो फिर वह गठरी खतम हुई समझिए। यों कहिए कि मन घुल गया, मिल गया, विलीन हो गया; बुद्धि से एकरूप हो गया। यही वास्तविक मनोनाश है। मनोनाश का अर्थ 'मन की शक्ति का नाश' नहीं है। मनोनाश का अर्थ है कि मन बुद्धि का अनुसरण करे। बुद्धि के निर्णय के अनुसार, बिना चीं-चपड़ किये चले। अमल करने की मन की शक्ति को नष्ट करने की जरूरत नहीं है। वह शक्ति कायम रखनी है। किन्तु हाँ, मन की कामनाओं को समूल नष्ट कर

देना है। इसी तरह मन की सब कामनाओं को सम्पूर्णतः त्याग करना स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का निषेधात्मक अंग हुआ।

15. विधायक व्याख्या: आत्मदर्शन

अब व्याख्या के विधायक अंग का विचार करें। **आत्मन्येवात्मना तुष्टः** यह विधायक लक्षण है। स्थितप्रज्ञ आत्मा में ही संतुष्ट रहता है। बाहरी दिखावे की अपेक्षा वह भीतरी दृश्य से ही तृप्त होता है। वस्तुतः बाहरी दृश्यों से भीतरी दर्शन ही अधिक सुंदर तथा भव्य होता है। कवि जिस दृश्य का वर्णन अपने काव्य में करता है, उस प्रत्यक्ष दृश्य की अपेक्षा भी उसका वह वर्णन अधिक मधुर होता है। उसका कारण यही है कि उसका वह ध्येयवादमय अंतरंग बाह्य सृष्टि की अपेक्षा अधिक रमणीय होता है। वह रमणीय आत्मदर्शन इस विधायक लक्षण में सूचित किया गया है। इन दोनों लक्षणों को मिलाकर स्थितेप्रज्ञ का सम्पूर्ण दर्शन होता है। वह कामनाओं का त्याग करता है और संतोष का झरना तो उसके अन्दर ही रहता है। कामनाओं में आनन्द नहीं होता, यह बात उसके चित्त में स्थिर होती है। और यह विचार करने योग्य प्रश्न है कि सचमुच कामनाओं में आनन्द या समाधान है भी? अनुभव नहीं बताता कि कामनाओं से शांति, शीतलता, समाधान प्राप्त होता है। उलटे उनसे मन सतत छटपटाता रहता है। छटपटाहट मनुष्य को बेचैन कर देती है, आग लगा देती है। अतः ऐसे डर की बिलकुल जरूरत नहीं है कि कामना के चले जाने से शीतलता कम हो जायेगी। कामना में जो समाधान मालूम होता है, वह कोरा भास ही है। आनन्द तो कामना की तृप्ति में, अर्थात् दूसरे शब्दों में उसके अभाव में होता है। कामना के पूर्ण होने का अर्थ है एक तरह से उसका शमन होना, नष्ट होना। विचार करने पर यह बात ध्यान में आ जायेगी कि आनन्द का स्थान कामना नहीं, बल्कि उससे मुक्ति है। इसी लिए यहाँ कामना का सम्पूर्ण त्याग और आत्मा में ही अर्थात् अपने स्वरूप में ही संतोष, ऐसा दुहरा लक्षण बताया गया है।

16. आत्मदर्शन व कामना-त्याग परस्पर कार्य-कारण हैं

यहाँ जो दुहरा लक्षण बताया गया, वह केवल विधायक तथा निषेधक ही नहीं, बल्कि उसमें से एक दूसरे प्रकार का भी दुहरा अर्थ निकलता है। इनमें पहला प्रारम्भिक और दूसरा प्रगत स्वरूप का है, ऐसा भी कह सकते हैं। पहला है, तमाम कामनाओं को त्याग देना, जो साधनरूप है। दूसरा लक्षण

कामना-त्याग से प्राप्त स्थिति का द्योतक है। अतः पहला है साधनरूप प्राथमिक और दूसरा है उसका फलितरूप प्रगत। **बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्**-बाह्य विषयों से चित्त जब अलग हो जाता है, तब पता चलता है कि अन्दर कितना आनन्द भरा है। इस वाक्य में गीता ने यह क्रम सूचित किया है। इसके विपरीत स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में ही आगे चलकर ऐसा भी कहा है कि जैसे-जैसे आत्मदर्शन होता जाता है, वैसे-वैसे कामना का रस सूखता जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि आत्मदर्शन साधन है और कामना-नाश उसका फल। इस दृष्टि से **आत्मन्येवात्मना तुष्टः**, यह मौलिक लक्षण माना जा सकता है। आत्मतृप्ति दिखायी नहीं देती, कामनाओं का त्याग दीख जाता है। किसी मनुष्य में कामना न दिखायी देना उसका प्रकट लक्षण है। वह आत्मसंतोष का चिह्न है और परिणाम भी। अतः उसे फलस्वरूप कह सकते हैं। परन्तु पहले आत्मदर्शन या पहले कामना-त्याग, ऐसा विवाद करना ही व्यर्थ है। 'पहले बीज या पहले पेड़' जैसा ही यह विवाद है। आत्मदर्शन और कामना-त्याग एक-दूसरे के कार्य-कारण हैं।

5

17. कामना-त्याग की चार प्रक्रियाएँ

यहाँ सब कामनाओं का निःशेष त्याग बताया गया है, अर्थात् कामना कंटक की तरह मानी गयी है। कांटा सोने का होने पर भी चुभेगा ही। छुरी सोने की होने पर भी प्राण लेकर रहेगी। अतः गीता का यह सिद्धान्त है कि झाड़-पोंछकर सारी कामनाएँ निकाल फेंकनी चाहिए। परन्तु गीता के ही आधार पर यह भी कहा जाता है कि कुछ कामनाएँ रहने देने में गीता को आपत्ति नहीं है। **धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ** यह वचन प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया जाता है। अतः इस प्रश्न का विचार कर लेना चाहिए। वास्तव में इन दोनों वचनों में कोई विरोध ही नहीं है। एक वाक्य में उस मुकाम का निर्देश किया गया है, जहां हमें पहुँचना है। दूसरा वाक्य यह सूचित करता है कि कामनाओं का त्याग कैसे किया जाये। कामना-नाश की प्रक्रिया के साधारणतः चार प्रकार हैं—(1) विस्तारक प्रक्रिया, (2) एकाग्र प्रक्रिया, (3) सूक्ष्म प्रक्रिया और (4) विशुद्ध प्रक्रिया।

18. कर्म-योग की विस्तारक प्रक्रिया

(1) विस्तारक प्रक्रिया : कामना जो व्यक्तिगत होती है, उसे सामाजिक रूप देना, यह कर्मयोग की कामना-नाश की एक युक्ति है। कोई देहात के सज्जन अपने लड़के को पढ़ाना चाहते हैं, तो वे अपने गांव में एक पाठशाला ही खोलने का तय कर लें। अपने लड़के की पढ़ाई के साथ ही और लड़कों की भी पढ़ाई की सुविधा कर दें। इस तरह अपनी कामना को सामाजिक रूप दें। पुरानी भाषा में एक दूसरा उदाहरण दूँ। किसी की मांस खाने की इच्छा हुई तो उनसे कहा गया कि मांस खाना हो तो यज्ञ कीजिए। यज्ञ करने पर दूसरों को खिलाने के बाद 'यज्ञ-शिष्ट' आप खा सकेंगे। घर में स्त्रियां ऐसा ही करती हैं। मीठा खाने की इच्छा सभी की होती है। घर में मिठाई बनती है। स्त्रियां सबको पेटभर खिलाने के बाद बचा-खुचा स्वयं खाती हैं। उनके हिस्से में तो मेहनत ही आती है। यह कर्मयोग की कामना-नाश की युक्ति है। इस प्रक्रिया का उद्देश्य यह है कि व्यक्तिगत वासना को सामाजिक रूप दिया जाये, ताकि वह विस्तृत होते-होते विलीन हो जाये।

19. ध्यान-योग की एकाग्र प्रक्रिया

(2) एकाग्र प्रक्रिया: अपने मन की अनेक वासनाओं में तुलना करके देखिए कि उनमें से सबसे प्रबल वासना कौन-सी है। शेष वासनाओं को छोड़कर उसी एक वासना की धुन लगने दीजिए। उसी में अपना चित्त एकाग्र कीजिए। मान लीजिए, किसी विद्यार्थी को और वासनाओं के साथ वेदाभ्यास की भी इच्छा है, परन्तु वह अन्य वासनाओं से बलवती है। तो वह गुरु-गृह जाकर रहेगा, जो मिलेगा वही खाकर अध्ययन करेगा, अर्थात् वह मीठा खाने की वासना को मार डालेगा। इस तरह अपनी मुख्य वासना को प्रमाण मानकर उसके अनुसार अपना सारा जीवन बनाया जाये, यह ध्यानयोग की युक्ति है। विद्याध्ययन की तीव्र इच्छावाले विद्यार्थियों में हम यह बात पाते हैं कि अन्य वासनाओं का निग्रह करके वे विद्यार्जन के लिए अनेक कष्ट झेलते हैं। **सुखार्थिनः कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिनः सुखम्** यह व्यासजी ने कहा ही है। हम तो विज्ञापन निकालते हैं कि हमारे छात्रालय में सुख-सुविधा तथा विद्या, दोनों की व्यवस्था है। यह भाषा ही गलत है। सुख की ओर ध्यान रहेगा, तो विद्या में नहीं रहेगा। अतः अपनी वासनाओं की छान-बीन कर जो सबमें प्रबल लगे, उसी पर एकाग्र होइए। आज के प्रयोगकर्ता भौतिकी वैज्ञानिक ऐसा ही करते हैं। वे अपना सारा ध्यान और शक्ति अपने प्रयोग पर लगाते हैं। यह

हुआ ध्यान-योग। अन्य वासनाओं को दूर कर एक ही वासना पर केन्द्रित हों, फिर उसे भी छोड़ दें। यही वह युक्ति है। एकाग्रता सध जाने पर उस वासना का भी त्याग करके मुक्त हो जाना है।

20. ज्ञान-योग की सूक्ष्म प्रक्रिया

(3) सूक्ष्म प्रक्रिया : इस प्रक्रिया में स्थूल वासना त्यागिए और सूक्ष्म ग्रहण कीजिए, ऐसी युक्ति बतायी जाती है। यदि सज-धज का शौक है, तो शरीर को सजाने की अपेक्षा अंतरंग को सजाओ, अपनी बुद्धि को सजाओ, चतुर बनो। नयी विद्या प्राप्त करो, कला सीखो। शरीर के स्थूल श्रृंगार की अपेक्षा यह बौद्धिक श्रृंगार सूक्ष्म है। इससे भी सूक्ष्म श्रृंगार है हृदय को शुभ गुणों से मंडित करना। शरीर को सुगंधित करनेवाले इत्र की अपेक्षा बुद्धि-चातुर्य अधिक सुगंधित इत्र है और उससे भी अधिक सुगंधित इत्र है हृदय की शुभ-गुण संपदा। नामदेव ने एक अभंग में **'मैया विठाई ने मुझे कैसा सजाया है'** इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। जिस प्रकार माँ अपने बच्चे के बाहरी अंगों को सजाती है बिलकुल वैसा ही अंतरंग श्रृंगार का वर्णन उसमें है। बाह्यश्रृंगार की अपेक्षा अंतःश्रृंगार से जीवन की शोभा विशेष बढ़ेगी। शोभा का स्थूल रूप छोड़िए और सूक्ष्म रूप गहिए। आनन्द कामना में नहीं, कामना-तृप्ति में होता है। कामना स्थूल रही तो उसकी तृप्ति कठिन होती है, क्योंकि तब बाहरी साधन जुटाने पड़ते हैं। वही सूक्ष्म रही तो तृप्ति में कठिनाई कम होती है, क्योंकि अपने आंतरिक साधनों से ही वह तृप्त हो जाती है। इस तरह कामना अंतर्मुख तथा सूक्ष्म होते-होते अंत में बिलकुल नष्ट हो सकती है, या होनी चाहिए। यह ज्ञान-योग की युक्ति है।

21. भक्ति-योग की विशुद्ध प्रक्रिया

(4) विशुद्ध प्रक्रिया : इस प्रक्रिया में हम वासना के व्यक्तिगत और सामाजिक अथवा स्थूल और सूक्ष्म ऐसे भेद नहीं करते। शुभ वासना और अशुभ वासना—ऐसा भेद करते हैं। मात्र अच्छी वासनाओं को रखिए, बुरी को त्याग दीजिए। यदि मीठा खाने की इच्छा हुई, तो मिठाई न खाकर आम खा लीजिए। मिठाई से नुकसान हो सकता है, उससे रजोगुण भी बढ़ेगा। पर आम स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है और उससे सत्त्वगुण भी बढ़ेगा। इस प्रक्रिया में हम आरम्भ में ही वासना को मारने के लिए नहीं कहते। कहना यही है कि अशुभ को छोड़ो और शुभ को गहो। शुभ कौन और अशुभ कौन, इसका निर्णय हर

कोई अपनी बुद्धि से करे। अपना मत अपने लिए प्रमाण। कुछ वासनाओं की शुभाशुभता का निर्णय विज्ञान की सहायता से किया जा सकेगा। कुछ वासनाओं के सम्बन्ध में यद्यपि विज्ञान की सहायता से ऐसा विवेक किया जा सके तो भी अंत में शुभ क्या और अशुभ क्या, इसका निर्णय हर किसी को अपने विचार से ही करना पड़ेगा। अशुभ वासनाओं का त्याग और शुभ वासनाओं की पूर्ति करते-करते मन शुद्ध होकर वासना ही उड़ जायेगी। यह कामना-नाश की विशुद्ध प्रक्रिया है।

22. विशुद्ध प्रक्रिया सब प्रकार से सुरक्षित

इन चारों प्रक्रियाओं के अन्त की यह विशुद्ध प्रक्रिया सबमें निरापद है, अतः सबसे उत्तम है और प्रायः भक्तियोग ने इसी को स्वीकार किया है। अन्य प्रक्रियाओं में शक्ति है, पर खतरा भी बहुत है। विस्तारक प्रक्रिया में कामना को सामाजिक बनाने के लिए कहा गया है, पर वह कामना ही अशुभ रही तो? किसी को मदिरा पीने की ही इच्छा हुई तो इस प्रक्रिया के अनुसार वह मदिरा पीने का सार्वजनिक क्लब खोलेगा। परन्तु इससे उसका और समाज का भी अधःपतन होगा। केवल सामाजिक बना देने से वासना शुद्ध होती ही है, सो बात नहीं। एकाग्र प्रक्रिया में भी वही खतरा है। जिस वासना पर चित्त एकाग्र करना है, यदि वही अशुभ हो तो सभी समाप्त। चित्त की एकाग्रता योग-शास्त्र का विषय है। उसमें पतंजलि ने ऐसा संकेत कर रखा है कि ध्यान-योग का आचरण यम-नियमपूर्वक ही करना चाहिए, नहीं तो उससे अनर्थ होगा और ध्यानयोग तारक होने के बजाय मारक होगा। सामाजिक और एकाग्रता में शक्ति है अवश्य, परन्तु वह यदि अयोग्य हुई तो उससे मनुष्य राक्षस ही बन जायेगा। सूक्ष्म प्रक्रिया भी सुरक्षित नहीं। वासना सूक्ष्म होने पर पवित्र ही होगी, ऐसी बात नहीं। किसी को काम-वासना ने घेर लिया और वह यदि अमूर्त काम का ही चिंतन करने लगे, तो वह कदाचित् अधिक ही भयानक हो जायेगा। अतः भक्तियोग द्वारा अंगीकृत यह 'विशुद्ध प्रक्रिया' सबसे सुरक्षित है। इसीलिए तुलसीदासजी ने कहा है, **भगति सुतंत्र अवलम्ब न आना।** अन्य साधनों के खतरे दूर करने के लिए उन्हें भक्तियोग का आधार आवश्यक होता है। भक्ति को दूसरा अवलम्ब नहीं चाहिए। अन्य साधन शक्तिशाली है, पर खतरे से भरे हुए भी हैं। एक ओर शक्ति है, तो दूसरी ओर सुरक्षितता। भक्ति और शक्ति में यही भेद है। भक्ति को यदि शक्ति का साथ न रहा तो वह दुर्बल होगी, परन्तु अपवित्र और मारक नहीं। इसके विपरीत यदि शक्ति को भक्ति का साथ न रहा, तो वह सर्वनाश ही कर डालेगी। भक्ति किसी भी अवस्था में अकल्याण नहीं

करेगी। अतः भक्तियोग द्वारा मान्य कामना-नाश की विशुद्ध प्रक्रिया सब प्रकार से सुरक्षित और अनुकूल है। **धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि** वाक्य से वही सूचित है।

तीसरा व्याख्यान

6

23. स्थितप्रज्ञता के सुलभ साधन : (अ) सुख-दुःख सह लो

स्थितप्रज्ञ की एक परिपूर्ण व्याख्या हुई। आगे के तीन श्लोकों में इस व्याख्या का उत्तरोत्तर सुलभ विवरण किया गया है। इनमें से पहले श्लोक में स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का मानसशास्त्रीय विवरण है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृह।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते ॥

व्याख्या का निर्देशक **'उच्यते'** शब्द यद्यपि श्लोक में आया है, तथापि यहाँ व्याख्या की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि व्याख्या तो पहले ही की जा चुकी है। स्थितप्रज्ञ की शास्त्रीय व्याख्या में सर्व कामनाओं का समूल त्याग अपेक्षित है, परन्तु वह इतना सरल नहीं है। अतः अब इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ का अपेक्षाकृत सरल लक्षण बताया गया है। अनिष्ट की प्राप्ति पर उद्वेग नहीं होने देना चाहिए। उद्वेग होने देने का अर्थ है—त्रस्त होकर थक जाना। इस शब्द में ही यह अर्थ निहित है। 'उत्' का अर्थ है ऊपर, 'वेग' के मानी है 'गति'। ऊपर चढ़ते हुए जैसे बैलों को कष्ट होता है, नाकों दम हो जाता है, वैसी हालत नहीं होनी चाहिए। दुःख को धैर्य से सहना चाहिए। उसके सामने घुटने नहीं टेकने चाहिए। दुःख की तरह सुख को भी सावधानी से सहना चाहिए। मनुष्य नहीं चाहता कि दुःख हो। अतः उससे वह भुलावे में नहीं आता, उसे तो धीरज से सह लिया कि बस। परन्तु सुख तो मनुष्य चाहता है। वह मन को भुलावे में डालता है। अतः सुख में खतरा है। सुख की लालसा सुख-सम्बन्धी गलतफहमी का परिणाम है। अतः जब सुख आये, तो सावधान होकर मन को रोक लेना चाहिए। दुःख आने पर धैर्य रखना चाहिए। सुख आने पर उसमें मन को लिप्त नहीं होने देना चाहिए। उसे रोक रखना चाहिए। उतार पर बैल दौड़ना चाहता है। इसी तरह सुख के समय मन की वृत्ति दौड़ने लगती है। अतः उसे रोक रखने की जरूरत है। यह काम उतना कठिन नहीं है। कामना-त्याग की तुलना में बहुत ही सरल है। यहाँ कामना के दो रूप बताये गये हैं—सुख का वांछनीय मालूम होना और दुःख का अवांछनीय लगना। यहाँ दोनों का संयम बताया गया है।

24. (आ) वृत्ति न उठने दो

जैसे कामना के दो प्रकार हैं, वैसे ही उसके तीन परिणाम होते हैं : (1) तृष्णा (2) क्रोध (3) भय। अनुकूल वेदना से तृष्णा का उदय होता है, प्रतिकूल वेदना से क्रोध का। भय भी क्रोध का ही, प्रतिकूल वेदना का ही, एक रूप है। परन्तु हमारे मन में जीवित रहने की एक विशेष आसक्ति रहती है, इसलिए भय-वृत्ति क्रोध से अलग मानी गयी है। हमारी जिजीविषा (जीने की इच्छा) पर आघात होते ही भीति उत्पन्न होती है। यह वृत्ति सभी प्राणियों में स्वरसवाही अर्थात् रक्त में मिली हुई है। जीवन के उच्छेद का प्रसंग आते ही वह जाग उठती है। अत्याचारी लोगों ने इस भय-वृत्ति का भरपूर लाभ उठाया है। उन्होंने लोगों को भय दिखाकर ही गुलाम बनाया है। तोप, बन्दूक आदि शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा उनके शासन का वास्तविक आधार यह भय-वृत्ति ही है। अतः तृष्णा और क्रोध-वृत्तियों को मिटाने के लिए जैसे स्वतंत्र साधना करनी पड़ती है, वैसे ही भय-वृत्ति को जीतने के लिए भी स्वतंत्र साधना जरूरी है। तृष्णा, क्रोध, और भय—इन तीनों वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर प्रज्ञा स्थिर होती है। ये वृत्तियां बुद्धि पर आघात करती हैं, अतः उनका निरसन यहाँ बताया गया है। इस तरह इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ की स्थिति का मानसशास्त्रीय विवेचन किया गया है। इसके आगे के श्लोक में यह बताया गया है कि प्रत्यक्ष कर्ममोग का आचरण करते हुए संयम कैसे साधा जाये।

25. स्थितप्रज्ञता का सुलभतर साधन : वृत्तियों के साथ न बहो

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्॥
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

'यः सर्वत्र अनभिस्नेहः'—मन को कहीं भी उलझने ने दें। मन को कहीं भी न चिपकाओ, न लिप्त होने दो, न टिकने दो या घर बनाने दो। मनुष्य का मन कहीं-न-कहीं चिपकता है। किसी का पुस्तक में चिपकता है, तो किसी का खेत में उलझा रहता है। यहाँ यह कहा गया है कि उसे कहीं भी उलझने मत दो। इससे पहलेवाले श्लोक में कहा है कि बुरे या अशुभ का दुःख मत होने दो, अच्छे या शुभ का सुख मत लगने दो। यहाँ उससे सरल साधन बताया है। यह नहीं कहा कि अच्छा मिले तो सुख मत मानो; भले ही सुख हो, इसमें हर्ज नहीं है, पर उस पर लट्टू मत होओ। हर्षित न हो उठो। उछलो मत। तालियां मत पीटो। उसका अभिनन्दन मत करो। लड़का पैदा हो तो अच्छा मालूम होगा, होने दो; परन्तु मिठाई

मत बांटो। शादी हुई तो अच्छा लगेगा, कोई हर्ज नहीं, पर गाजा-बाजा मत करो। इतना ही यहाँ कहा है। इसी तरह बुरा प्राप्त हुआ तो बुरा लगा। हर्ज नहीं, लगने दो; पर मन में संताप न होने दो। वह इतना तीव्र न हो जाये कि बुद्धि को विकारों की आँच लगने लगे। विकार बुद्धि पर आघात करते हैं। बुद्धि सही-सलामत रहनी चाहिए। चाणक्य का एक वचन है—मेरा सब कुछ चला जाये, पर बुद्धि कायम रहे—**बुद्धिस्तु मा गान् मम।** बुद्धि सलामत रखो। कर्मयोगी प्रत्यक्ष व्यवहार में कैसा बरते, इसका यह विवरण हुआ। मनुष्य की वृत्ति में यदि थोड़ी भी गंभीरता हो, तो उसके लिए यह सहज सधने जैसा है। यदि बंदर जैसी वृत्ति रही, तो संयम नहीं सधेगा। बन्दर आनन्द से किलकिलाने लगते हैं, दुःख से चीखते हैं। ऐसी वृत्ति न हो। थोड़ी गम्भीरता हो, तो यह कठिन नहीं मालूम होगा।

26. स्थितप्रज्ञता का सुलभतम साधन : इन्द्रिय-नियमन

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

संयम को और भी सुलभ तथा स्पष्ट करने के लिए इस श्लोक में कछुए का उदाहरण देकर इन्द्रिय-निग्रह बताया है। जैसे कछुआ अपने अवयवों को समेट लेता है, वैसे ही अपनी इन्द्रियों को विषयों से समेट लो। यों कछुआ अपने सभी अवयवों को फैलाकर चलता है, परन्तु खतरा मालूम होते ही उन्हें सिकोड़ लेता है। उसी तरह जहाँ खतरा हो, वहाँ आप अपनी इन्द्रियों को भीतर खींच लें। जहाँ उनका पारमार्थिक उपयोग होता हो, वहाँ उन्हें खुला रहने दें। यह साधन और भी सरल है। जहाँ खतरा दीखे, वहाँ पीछे हट जायें। जहाँ खतरा न हो, वहाँ आजाद छोड़ दें। कितना सीधा-सादा है यह! यह तो पशु भी समझते हैं। इसी लिए कछुए का उदाहरण दिया है। जब कछुआ जैसा जानवर भी इस तरह बरतता है, तब आप-हम तो मनुष्य हैं, यह गीता का संकेत है।

7

27. इन्द्रिय-नियमन वस्तुतः कठिन नहीं

परन्तु जो बात यहाँ सरल बतायी गयी, वह भी हमें कठिन मालूम होती है। मुख्यतः यह बात आदत की है। छोटे बच्चे को यदि शुरुआत से ही ऐसा अभ्यास हो जाये, तो गीता उसका स्वभाव ही बन

जायेगी। बात सिर्फ अभ्यास, आदत की है। कहते हैं, गीता तो मनुष्यस्वभाव से विरुद्ध चलने के लिए कहती है। बिलकुल नहीं। छोटे बच्चे की नैसर्गिक रुचियां शुद्ध ही रहती हैं। हम जबरदस्ती उसकी जीभ को चाहे जैसे पदार्थों की रुचि उत्पन्न करते हैं। उसकी रुचि को विकृत और कृत्रिम बनाते हैं। गीता कहती है कि छोटे बच्चे को स्वभावतः जो अच्छा लगता है, और सुलभ है, वही कीजिए। हम छोटे बच्चों को कुशिक्षा देकर पहले उनकी रुचि बिगाड़ देते हैं। इसी लिए बाद में उलटी शिक्षा देकर उसे सुधारना पड़ता है। शुरू में ही कुशिक्षा देकर इन्द्रियों को आवारा बना दिया जाता है, इसलिए फिर उन्हें काबू में रखना कठिन मालूम होता है। यदि शुरू से ही अच्छी आदत डाली जाये, तो इन्द्रिय-संयम सुलभ होगा। ज्ञानदेव कहते हैं, "मेरी इन्द्रियों का स्वभाव ही ऐसा बन गया है कि जो नहीं देखना चाहिए, उसकी तरफ आँख ही नहीं जाती, जो सुनने योग्य नहीं है, उसे कान सुनते ही नहीं।" यह बात कठिन क्यों लगनी चाहिए? यदि यह मालूम हो जाये कि यहाँ आग है तो क्या हाथ उधर जायेगा? बल्कि यदि आग में हाथ डालना ही पड़े, तो विचार से मन का निश्चय कर ही डालना होगा। इसी तरह मन का जहाँ निश्चय हो जाये कि यहाँ खतरा है, तो उधर इन्द्रियाँ जायेंगी ही नहीं। वास्तव में तो खतरे की जगह इन्द्रियों को ढीला छोड़ना ही कठिन मालूम होना चाहिए। परन्तु कुशिक्षा ने हमारी स्थिति विपरीत कर डाली है। जो कठिन या अस्वाभाविक है, वही हमें सहज और सरल मालूम होता है। उसका गीता क्या करे! गीता ने तो ऐसा एक साधन बता दिया है, जो उसकी दृष्टि से एक बच्चे के लिए भी सरल है। निःसंदेह समाज की अवस्था स्वाभाविक हो, तो उसमें इन्द्रिय-जय कठिन नहीं मालूम होगा।

28. इन्द्रिय-नियमन के दो प्रकार: संयम और निग्रह

इन्द्रिय-जय की दो विधियां बतायी जाती हैं—इन्द्रिय-संयम और इन्द्रिय-निग्रह। इन दो प्रकारों पर थोड़ा विचार कर लें। इन्द्रिय-निग्रह कुछ समय के लिए होता है। इन्द्रिय-संयम सारे जीवन का तत्त्व है। मान लीजिए, मुझे मीठा खाने का शौक है। मीठा खाना बुरा ही है, ऐसा नहीं। हाँ, मीठे का मोह बुरा है। अतः मैं कुछ समय के लिए मीठा खाना बिलकुल छोड़ देता हूँ। इसका उद्देश्य है अपने को शिक्षित करना, आदत लगाना, दान्त करना। इन्द्रियों को दान्त करने के लिए, काबू में लाने के लिए, कुछ समय तक हमें उनका निग्रह करना पड़ता है। मीठा खाना कोई गुनाह तो नहीं। स्वास्थ्य के लिए कुछ मीठा खाना आवश्यक भी हो सकता है। परन्तु मीठे के शौक को वश में करने के लिए कुछ समय तक मैंने

उसका निग्रह किया। उसके बाद मैं फिर मीठा खाने लगता हूँ, परन्तु संभलकर और तौलकर। इसे संयम कहेंगे। इसी तरह मौन का उदाहरण लीजिए। मौन कुछ काल तक करने का साधन है; मित-भाषण नित्य का साधन है। इसी तरह उपवास नैमित्तिक साधन है; नियमित और नियत खान-पान नित्य का साधन है। मनुष्य की कसौटी भी इसी में है। गुजराती में एक मार्मिक कहावत है, **'माणसनी परीक्षा खाटले ने पाटले'।** पाट पर और खाट पर, अर्थात् भोजन के समय और बीमारी के समय ही, मनुष्य की परीक्षा होती है। भोजन और बीमारी—ये ऐसे अवसर हैं, जब मनुष्य के स्वभाव के सभी दोष प्रकट हो जाते हैं। मनुष्य एक बार बेशुमार खा सकता है, या कभी बिलकुल ही भूखा रह सकता है; परन्तु तौलकर उचित मात्रा में खाना नहीं सधता। दोनों सिरे सध जाते हैं, परन्तु मध्यम अवस्था नहीं सधती। इन्द्रियों को मध्य में रखना 'संयम' है। इसके लिए कभी-कभी इन्द्रियों को दूसरे सिरे पर ले जाना पड़ता है, यह 'निग्रह' हुआ। निग्रह का लाभ स्पष्ट ही है, परन्तु वह नित्य धर्म नहीं है।

29. उनका और अधिक विवरण

हमने जो यह भेद किया है कि निग्रह प्रासंगिक है और संयम नित्य है, यह सिर्फ तारतम्य से किया है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि, थोड़ा विचार करने से यह समझा जा सकता है कि निग्रह भी संयम की तरह नित्य हो सकता है। हमने देखा कि उपवास प्रासंगिक और मिताहार नित्य है। परन्तु मान लीजिए कि किसी व्यक्ति ने रोज अमुक बार ही खाने का नियम किया है—और ऐसा नियम इष्ट ही होता है—अब बीच में ही यदि किसी ने उसे कुछ खाने को दिया, तो वह नहीं खायेगा। यह निग्रह हुआ। परन्तु यह स्पष्ट है कि वह प्रासंगिक न होकर नित्य का कहा जायेगा। यही बात मौन की है। मौन आमतौर पर प्रासंगिक तो होता है, परन्तु वाणी का निग्रह करने के अवसर रोज आना सर्वथा सम्भव है। किसी ने कुछ कह दिया, तो उसका उत्तर देने के बदले अपने बोलने के वेग को रोक लेना बहुत बार जरूरी हो जाता है। वाणी का यह निग्रह नित्य की ही वस्तु हो गयी। इसका यह अर्थ हुआ कि निग्रह और संयम का अभ्यास वस्तुतः रोज ही करना पड़ता है। उसमें अंतर केवल तारतम्यमूलक है। वास्तव में मूलतः दोनों एक ही हैं। निग्रह और संयम, दोनों में एक वस्तु समान है—अपने पर अंकुश। सार यह कि संयम और निग्रह का सूक्ष्म भेद जानकर बाद में उसे भूल जाना ही अच्छा है। परन्तु 'निग्रह' शब्द के सम्बन्ध में कुछ और स्पष्टीकरण आवश्यक है। लगता है कि निग्रह में बलात्कार का भाव तो नहीं आता? परन्तु

'इन्द्रिय-निग्रह' शब्द में ऐसा बलात्कार सूचित नहीं है। शब्द का अर्थ को बोझ नहीं लगता। अतः वह अनेक अर्थों में यथावसर व्यवह्यत होता है।

30. इन्द्रिय-जय का गीता की दृष्टि में महत्त्व

यहाँ स्थितप्रज्ञ का मुख्य लक्षण और उसके तीन विवरण पूरे हुए। अगले दस श्लोकों में इस विवरण के अंतिम क्रियात्मक सुलभ साधन इन्द्रिय-जय का निरूपण है। गीता को यह इतना महत्त्वपूर्ण लगता है कि अनेक अध्यायों में स्थान-स्थान पर उसका विवेचन हुआ है। तीसरे अध्याय में कर्मयोग के विवेचन के बाद 'इन्द्रिय-जय' का एक स्वतंत्र प्रकरण ही जोड़ा गया है। यहाँ अब इस विषय का विज्ञान और तत्त्वज्ञान, दोनों बताना है। 'कैसे' का उत्तर विज्ञान देता है, 'क्यों' को तत्त्वज्ञान हल करता है। 'इन्द्रिय-निग्रह' कैसे करें और क्यों करें, अर्थात् प्रज्ञा की स्थिरता से उसका क्या सम्बन्ध है, इन दोनों का विचार अब आगे किया जा रहा है।

२. रसनिवृत्त्यधिकरणम्

चौथा व्याख्यान

8

31. इन्द्रिय-जय के विज्ञान की प्रस्तावना

स्थितप्रज्ञ के लक्षण वस्तुतः पहले चार श्लोकों में ही पूरे हो गये। अब इन्द्रिय-निग्रह के विज्ञान और तत्त्वज्ञान पर विचार करेंगे। पहले तीन श्लोकों में विज्ञान बताया जायेगा। अब तक उत्तरोत्तर सरल साधन बताये गये। (1) पहले कहा—कामना छोड़ ही दो। (2) फिर कहा—कामना का परिणाम मत होने दो; तृष्णा, क्रोध और भय इनमें उसका पर्यवसान मत होने दो। (3) फिर बताया—परिणाम हो भी, तो उसे काबू में रखो, बुद्धि पर उसका आक्रमण मत होने दो। और (4) अंत में कहा कि इन्द्रियों को ही समेटो। इस तरह भिन्न-भिन्न व्यूहों के द्वारा उनका विवरण किया, ताकि पता चले कि साधना का श्रीगणेश कैसे किया जाये। इसका यह अर्थ नहीं कि साधक को अंतिम सीढ़ी तक पहुँचे बिना स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो जायेगी। अंत में इन्द्रियों को समेटना तो सिर्फ इसलिए कहा गया है कि वह सबमें सुलभ साधन है। परन्तु निग्रह और संयम, दोनों से इन्द्रियाँ वश में कर लें, तो इतने से मनुष्य स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकता। इन्द्रियों पर काबू पाना आने पर उसके सहारे भीतर की सारी कामना ही काटकर फेंक देना है। 'मैं जैसा संकल्प करूँगा, वैसा ही इन्द्रियाँ आचरण करेंगी'—इस अनुभूति से प्राप्त शक्ति के सहारे कामना का बीज ही निकाल फेंकना है। जब यह कामना-बीज नष्ट हो जायेगा, तभी हम समझेंगे कि इन्द्रिय-निग्रह सफल हुआ। इन्द्रिय-निग्रह की हमारी नाप इतनी सूक्ष्म है, और वही अब एक श्लोक में बतायी जाती है। 'इन्द्रिय-निग्रह' के विज्ञान का यह आरम्भ है।

32. निराहार प्राथमिक साधना, रस-निवृत्ति पूर्णता

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

'निराहार की साधना से विषय छूट जाते हैं, परन्तु रुचि शेष ही रह जाती है। वह भी फिर पर-दर्शन से निवृत्त होती है।'—यह इस श्लोक का भावार्थ है। विषय छूट गये, विषयों से इन्द्रियों को समेट

लिया, तो इतने ही से यह नहीं समझना चाहिए कि इन्द्रिय-जय पूर्ण हो गया। 'निराहार' शब्द के 'आहार' का अर्थ 'रसना का आहार' तो है ही, परन्तु इसके अलावा 'सब इन्द्रियों के भोग', ऐसा व्यापक अर्थ भी लेना होगा। अर्थात् यह शब्द यहाँ उपलक्षणात्मक है। इन्द्रियों के आहार का निग्रह—यह प्राथमिक साधना है। इससे साधना समाप्त नहीं हो जाती। वह तो सिर्फ शुरुआत है। बाह्य इन्द्रिय-निग्रह हो जाने से अब भीतरी रस छोड़ने की तैयारी करने की योग्यता और शक्यता प्राप्त हुई। वास्तविक अर्थात् आंतरिक साधना की शुरुआत हो गयी। भीतरी रुचि जब मिट जायेगी, तभी साधना पूरी होगी। बाह्य इन्द्रिय-निग्रह आंतरिक रुचि छोड़ने की शक्यता उत्पन्न करता है, इसी लिए गीता ने स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में उसका समावेश किया है।

33. पूर्ण व्याख्या के साथ ही प्राथमिक साधना दिखानेवाली गीता की गुरु-दृष्टि

दार्शनिक दृष्टि से कहना हो, तो सिर्फ इतना ही बताना काफी है कि सभी कामनाएं छोड़ दो। आरम्भ की स्थितप्रज्ञ की व्याख्या दार्शनिक की भाषा में की है। परन्तु दार्शनिकों का ढंग और है और शिक्षक का ढंग और। शिक्षक विद्यार्थी की भूमिका और अधिकार का खयाल करके बोलता है। यह तो वह जताकर कह देता है कि अंतिम साधना पूर्ण हुए बिना डिप्लोमा नहीं मिलेगा; परन्तु साथ ही यह भी बताता है कि आज का पाठ क्या होगा। अर्थात् एक ओर शास्त्रीयता को कायम रखकर भी और दूसरी ओर दयालु होकर ऐसा भी साधन बताता है, जिससे विद्यार्थी को आशा मालूम हो और धीरज बंधे। गीता की पद्धति भी इसी प्रकार वत्सलतापूर्ण है। कछुए का उदाहरण पहला पाठ है। एक पाठ के बाद दूसरा पाठ, इस तरह गुरु-माता के वात्सल्य की तरह गीता एक-एक कदम आगे ले जाती है। दयालु संतों ने तो यहाँ तक आश्वासन दे दिया है कि जिसने भक्तिपूर्वक एक बार भी ईश्वर का नाम ले लिया, वह मोक्षाभिमुख हो गया। उसका मुँह सही दिशा की ओर मुड़ गया। यह बात नहीं कि इससे वह मंजिल पर पहुँच गया, परन्तु दिशा मिल गयी तो आशा मालूम होने लगती है। आशा बढ़ाते-बढ़ाते मुकाम तक पहुँचा देना ऐसी गुरु-दृष्टि होती है।

34. प्राथमिक साधना स्पष्ट ही अपूर्ण, परन्तु इसलिए ढोंग नहीं

असल में कहना यह है कि जब तक भीतर का रस नष्ट नहीं होता, तब तक प्रयत्न जारी रखना चाहिए। तब तक क्या करें? तब तक बाहर से इन्द्रियों को समेटना ही है। इस पर कुछ लोग कहते हैं, यह तो ढोंग

हुआ! जिन्हें आत्मनाश करना हो, वे ऐसे तार्किकों के चक्कर में पड़ें। यदि कोई साधक पर ढोंग का इल्जाम लगाना ही चाहे, तो वह उसी समय साबित हो जायेगा; क्योंकि साधना पूर्ण होने तक उसका केवल प्रयत्न ही जारी रहनेवाला है। तब तक उसकी मनोवस्था और आचार में फर्क दिखायी देगा ही। वह प्रार्थना में बैठेगा, तो भी मन इधर-उधर दौड़ता रहेगा। तो कहते हैं—"वह प्रार्थना ही न करे। प्रार्थना तो ढोंग है।" साधक पर ऐसा आरोप तभी साबित होगा, जब यह सिद्ध किया जा सके कि वह लोगों को बताने के लिए प्रार्थना का दिखावा करता है। पर वह ऐसा तो करता नहीं। जब ढोंग की नीयत न हो, तो उसे ढ़ोंग कैसे कहेंगे? कोई गीता के इसी श्लोक में यह अर्थ निकालना चाहते हैं कि जब तक मन वशीभूत न हो सके, तब तक इन्द्रियों को रोकना ढोंग है, परन्तु यह ठीक नहीं है। **रसस् त्वस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते** यदि ऐसी भाषा होती तो शायद ऐसा अर्थ किया भी जा सकता, परन्तु यहाँ तो **रसोऽपि** कहा है। अपि शब्द से इन्द्रियों को समेटने का भी महत्त्व सूचित हो जाता है। परन्तु इतने से साधना पूर्ण नहीं होती। रस अर्थात् रुचि निर्मूल होनी चाहिए। इतना अर्थ उसमें भरा हुआ है। जब तक रुचि नहीं मिटती तब तक जो इन्द्रिय-निग्रह होगा, उसे चाहें तो कच्चा कह सकते हैं, पर ढोंग तो हरगिज नहीं। इन्द्रिय-निग्रह का स्थूल और सूक्ष्म, इस तरह दुहरा अर्थ है। दोनों प्रकार का निग्रह करके, अंत में उसे स्थितप्रज्ञ की मूल व्याख्या तक पहुँचाना है।

35. साधना की पूर्णता पर-दर्शन, अर्थात् आत्म-दर्शन

जब तक आंतरिक रुचि नहीं मिटती, तब तक सूक्ष्म अर्थ में इन्द्रिय-निग्रह नहीं सध सकता। यह रुचि कैसे मिटे ? इसका उत्तर दिया है—पर-दर्शन से, आत्म-दर्शन से। पर-तत्त्व का अर्थ है—सबसे परले पार का तत्त्व। वस्तुतः वह तत्त्व सबसे परले पार का नहीं, बल्कि बिलकुल इस पार का है। वह पर-तत्त्व नहीं, स्व-तत्त्व है। परन्तु उलटी ही भाषा चल पड़ी है। इसका कारण यह है कि हम शरीर से अर्थात् बाह्य तत्त्व से गिनती शुरू करते हैं। शरीर सबसे बाहरी है, उसे सबसे नजदीक का मानते हैं। उसके बाद मन, उसके बाद बुद्धि और बुद्धि के भी बाद आत्मा—ऐसी उलटी गिनती से जो सबसे नजदीक का है, वह सबसे दूर का हो बैठता है। **इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः पर मनः** इत्यादि वचनों में गीता ने ऐसी भाषा को अपनाया दीखता है। परन्तु वहाँ पर शब्द का अर्थ 'श्रेष्ठ' अथवा 'सूक्ष्म'

समझा जाये। सबसे सूक्ष्म, सबसे श्रेष्ठ, सबसे पास आत्मा है। उसका दर्शन हुए बिना इन्द्रिय-निग्रह पूरा नहीं होता। अर्थात् जो बात पहले श्लोक में कही थी, वहीं लाकर फिर छोड़ दिया।

9

36. इन्द्रियों का उद्दंड स्वभाव : मनु का एतद्विषयक वचन

इस पर सहज ही कोई कहेगा कि "वाह! उत्तरोत्तर सरल साधन बताता हूँ, ऐसा आश्वासन देकर हमको खूब फँसाया—पहले मिठाई दिखाकर फिर डंडा दिखाया।" भीतरी रस छोड़ना सरल नहीं। यह कैसे सधेगा? अब इसी की प्रक्रिया बतानी है। परन्तु इससे पहले आक्षेपकों के आक्षेप को ही भगवान् इस श्लोक में दृढ़ करते हैं—

यततो ह्यपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

इसका अर्थ है—"प्रयत्नशील और विचारवान मनुष्य की इन्द्रियाँ भी जोर मारकर उसके मन को खींच ले जाती हैं।" ऐसा ही एक वचन मनु का भी है। अनेक लोग उसका और गीता के इस श्लोक का एक ही अर्थ करते हैं।

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवान् इन्द्रियग्रामः विद्वांसमपि कर्षति॥

यह मनु का वचन है। इसका भावार्थ है – "मनुष्य को चाहिए कि वह माँ, बहन और लड़की के विषय में भी सावधान रहे; क्योंकि इन्द्रियाँ बलवान होती हैं और मौका पड़ने पर विद्वान को भी खींच ले जाती हैं।"

37. मनु की और गीता की भूमिका समान नहीं

परन्तु मनु के इस वचन का वस्तुतः गीता के वाक्य के साथ मेल नहीं बैठ सकता। मनु ने साधारण मनुष्य के लिए व्यवहार की सामाजिक मर्यादा बतायी है और गीता का विवेचन आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया है। "मनुष्य को अपने पर जरूरत से ज्यादा विश्वास नहीं रखना चाहिए। बाह्यतः भी इन्द्रिय-निग्रह उससे हो ही सकेगा, यह नहीं कह सकते" ऐसा मनु का आशय है। उन्होंने सर्वसाधारण के लिए

अपनी दृष्टि से और तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार एक सुरक्षित सामाजिक नियम बतलाया। किन्तु गीता का वाक्य साधक के लिए है, और उसमें वैसा अविश्वास नहीं दिखाया गया है। गीता साधकों के बारे में यह नहीं कहना चाहती कि तुमसे स्थूल अथवा बाह्य इन्द्रिय-निग्रह भी नहीं सध सकता। यहाँ यह गृहीत माना गया है कि इन्द्रियों को बाह्यतः रोककर हम निराहार हो सकेंगे। गीता को यह मान्य है कि हम चाहें तो विषयों से इन्द्रियों को हटा सकते हैं। वह इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा कहती है कि ऐसा अवश्य करना चाहिए। मनु तो इतनी भी अपेक्षा नहीं रखते। वे तो केवल साधारण मनुष्य को सावधानी का एक संकेत देकर छुट्टी पा लेते हैं। लेकिन यहाँ गीता का आशय भिन्न है। यहाँ यह आध्यात्मिक विचार प्रस्तुत किया गया है कि इन्द्रियों को विषयों से हटा लेने पर भी, वे हार न खाकर मन पर हमला करती हैं। बाहरी विषयों से इन्द्रियाँ हटा ली जायें, तो भी वे मन में आसन जमाकर बैठ जाती हैं। और उससे इच्छा न रहते हुए भी मानसिक विषय-सेवन होने लगता है। परिणामस्वरूप सूक्ष्म इन्द्रिय-निग्रह नहीं होता—इतना ही गीता कहती है।

38. ज्ञानी और प्रयत्नवान मनुष्य के मन को भी इन्द्रियाँ खींच सकती हैं

जो अच्छी तरह विचारपूर्वक प्रयत्न करता है, उसका भी यह हाल हो जाता है। **यततो ह्यपि, विपश्चितः अपि** इस तरह अपि शब्द दोनों जगह लेना है। **विपश्चित्** शब्द में 'विपः' और 'चित्' ये दो शब्द हैं। 'विपः' 'विप्' शब्द की द्वितीया का बहुवचन है। 'विप्' ज्ञानार्थक धातु है। यही 'विप्र' शब्द में है। 'विप्र' यानी ज्ञानी। विपश्चित् यानी अनेक ज्ञानों को जाननेवाला, ज्ञाता। "ऐसा ज्ञाता भी है और प्रयनशील भी है, किन्तु उसके लिए भी सूक्ष्म इन्द्रियजय साधना कठिन होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ उसके मन को भी लुभाना चाहती हैं," ऐसा भाव यहाँ गीता का है।

39. परन्तु ज्ञान और तितिक्षापूर्वक प्रयत्न, यही दो शक्तियाँ मनुष्य के पास हैं

ज्ञान और तिकिक्षापूर्वक प्रयत्न यही दो शक्तियाँ मनुष्य के पास हैं, तीसरी कोई शक्ति उसके पास है ही नहीं। अब यदि यह कहा जाये कि मनुष्य को उपलब्ध ये दोनों शक्तियाँ लगा देने पर भी इन्द्रियाँ सिरजोर होकर मन पर काबू जमा लेती हैं, तो फिर मुश्किल ही समझना चाहिए। यत्नवान विपश्चित् पुरुष का अर्थ हुआ तत्त्वज्ञान और तितिक्षा—इन दोनों शक्तियों से सम्पन्न पुरुष। दूसरे अध्याय

में आरम्भ में ही इसी पुरुष को 'धीर' संज्ञा दी गयी है। 'धीर' शब्द का अर्थ दो तरह से किया जाता है। 'धी' अर्थात् बुद्धि और 'धीर' यानी बुद्धिमान, ज्ञानी। परन्तु अकेले ज्ञान से साधना पूरी नहीं होती। ज्ञान तो है, पर सहन करने की शक्ति अर्थात् तितिक्षा नहीं है, तो मनुष्य टिक नहीं सकेगा। मनुष्य को अत्यन्त दारुण यंत्रणा देने पर यह कहना कठिन है कि कोरे ज्ञान-बल से वह अंत तक सब सह सकेगा। एक वैज्ञानिक की कथा प्रसिद्ध है : 'पृथ्वी घूमती है' यह प्रतिपादन करने के कारण उसे बहुत सताया गया। तब उसने कहा—"लाओ, आप लोग जो कहेंगे, उस पर दस्तखत कर देता हूँ।" वे लोग 'पृथ्वी नहीं घूमती है' इस आशय के मजमून पर सही कराना चाहते थे। अधिक कष्ट सह नहीं सका, इसलिए बेचारे को मजबूर होना पड़ा। परन्तु जब सही करने का समय आया, तब उसने कहा—"मैं कया करूँ? मेरे 'नहीं' कहने पर भी वह तो घूमती है, घूमती है और अवश्य घूमती है।" भावार्थ यह कि ज्ञान के साथ तितिक्षा भी चाहिए। अक्ल के साथ दृढ़ता चाहिए। 'धीर' शब्द के दूसरे अर्थ में वह आ जाती है। इसके लिए धीर शब्द का अर्थ 'धृ' धातु से लगाना चाहिए। धीर कहते हैं धृतिवान, धैर्यवान, तितिक्षावान को। गीता में इस शब्द का प्रयोग दोनों अर्थ समाविष्ट करके किया गया है।

40. जब ये भी काफी न हों तो क्या करें?

ऐसा तत्त्वज्ञान-तितिक्षा-सम्पन्न धीर पुरुष ही शीत-उष्ण आदि द्वंद्वों को सहन करने में समर्थ होता है और मोक्ष-लाभ के योग्य बनता है—ऐसा भगवान् ने दूसरे अध्याय के आरम्भ में कहा है। परन्तु स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में भगवान् कहते हैं—इन दोनों शक्तियों के रहने पर भी इन्द्रियाँ मन को चक्कर में डाल देती हैं। इन्द्रियाँ यत्नवान विपश्चित् पुरुष के भी वश में नहीं होतीं, उस पर भी वे मात कर जाती हैं। ऐसा कहने पर तो मानो आशा के लिए कोई जगह ही नहीं रही। यह तो निराशावाद ही हो गया। दूसरे शब्दों में, आक्षेपकों का यह आक्षेप कि इन्द्रिय-निग्रह का अर्थ आपने बहुत ही कठिन कर डाला, गीता ने और भी मजबूत कर दिया। अब इसमें से रास्ता कैसे निकालें, यह बात अगले श्लोक में बतानेवाले हैं।

पाँचवाँ व्याख्यान

10

41. मनु और गीता के वचनों का विशेष विवेचन

मनु और गीता के वचनों का अंतर देखा। उसे और स्पष्ट कर लें तो अच्छा। मनुष्य की बुद्धि और इन्द्रियों के बीच मन है। अतः जो इन्द्रियों पर काबू पाना चाहता है, वह मन पर भी काबू पाना चाहता है; परन्तु मन पर नियंत्रण आसानी से नहीं पाया जाता। इसलिए गीता कहती है कि पहले इन्द्रियों को वश में करो। इसका यह अर्थ नहीं कि इतने से मन वश में हो ही जायेगा; बल्कि इन्द्रियाँ जब विषयों से अलग पड़ जाती हैं, तब मन पर आक्रमण करती हैं। साधक इस बात को जानता है। वह अपने को मन से अलग करता है। वह पहचानता है कि मन पर आक्रमण हो रहा है। वह मन के अधीन नहीं होता। उससे सहयोग भी नहीं करता। गीता की भाषा में यह भाव सूचित किया गया है। **हरन्ति प्रसभं मनः**—इन्द्रियाँ सिरजोर होकर उसके मन को खींच ले जाती हैं, ऐसा कहा गया है। यह नहीं कहा कि उसी को खींच ले जाती हैं। साधक का मन इन्द्रियों के साथ खींचा जाता है, साधक नहीं खींचा जाता। परन्तु मनु ने ऐसा नहीं कहा है। वे कहते हैं—"ये जबरदस्त इन्द्रियाँ विद्वान को भी खींच ले जाती हैं। उसके मन को ही नहीं, बल्कि खुद उसी को खींच ले जाती हैं"—**विद्वांसमपि कर्षति।** इन्द्रियों को रोककर रखते-रखते भी वे मन पर आक्रमण करती हैं। अतः ऐसा उपाय करना चाहिए कि उनका आक्रमण मन पर न हो सके। पर प्रयत्नशील विद्वान के लिए भी यह कठिन होता है, अर्थात् साधक की यह बिचली अवस्था लड़खड़ाने जैसी होती है। मन विषय की ओर दौड़ता है। साधक उससे सहयोग नहीं करता। किन्तु उसे ऐसी स्थिति प्राप्त करनी होती है कि मन उधर जाये ही नहीं। उसका सारा दर्शन और तीव्र प्रयत्न भी इस काम में अपर्याप्त सबित होता है। प्रश्न उठता है कि तब किया क्या जाये? इसी का उत्तर अगले श्लोक में दिया है।

42. युक्तिपूर्वक यथाशक्ति इन्द्रिय-निग्रह करके जब अपना बल कम पड़े तो भक्ति का आवाहन करें

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

युक्तः सन् तानि सर्वाणि संयम्य मत् परः आसीत्-ऐसा इसका अन्वय करना चाहिए। युक्तिपूर्वक सब इन्द्रियों का संयम कर ईश्वरपरायण होकर रहें। ज्ञान और तितिक्षा के बल पर इन्द्रियों को वश में कर ही लेना चाहिए। जहाँ जरूरी हो वहाँ निग्रह और जहाँ आवश्यक हो वहाँ संयम करने की युक्ति साध ही लेनी चाहिए। इस तरह पहले युक्तिपूर्वक इन्द्रियों को वश में कर लो, यह कहा है। निग्रह और संयम, दोनों का संग्राहक एक शब्द है, 'निरोध'। गीता कहती है कि ज्ञान और तितिक्षा के बल पर निरोध-शक्ति प्राप्त करो। परन्तु इस तरह बड़ी युक्ति से इन्द्रिय-निरोध करने पर भी जब तक मन वश में न हो जाये, तब तक निरोध पूरा नहीं होता। मनोनिरोध के लिए मनुष्य का बल अपूर्ण साबित होता है। यहाँ से भक्ति का आरम्भ होता है।

43. वहीं भक्ति आवश्यक

जब और जहाँ मनुष्य की पुरुषार्थ-शक्ति कुंठित होती है, टूट जाती है, वहीं भक्ति आवश्यक हो जाती हे। परिपूर्ण प्रयत्न किये बिना भक्ति के लिए गुंजाइश नहीं है। ईश्वर ने जो शक्ति हमें दे रखी है, उसका पूरा-पूरा उपयोग करने में ही हमारी नम्रता और आस्तिकता है। हमारे भीतर जो शक्ति बसती है, वह 'वासुदेव' शक्ति है। वह ईश्वर की ही शक्ति है, वह उसने हमें पहले से ही दे रखी है। कुछ शक्ति उसने हमें दे रखी है, कुछ अपने पास रख छोड़ी है। यह जो देव-दत्त शक्ति है, उसे हम स्व-शक्ति समझते हैं, यह भूल है। वस्तुतः वह ईश्वर की ही शक्ति है। इसके विपरीत ईश्वर ने जो शक्ति अपने पास रख छोड़ी है, वह भी हमारी ही है। अपने पास की शक्ति का पूर्णतया उपयोग करने पर ही उस शक्ति की माँग का अधिकार प्राप्त होता है।

44. प्राप्त शक्ति का पूर्ण उपयोग कर लेने पर ही ईश्वर से अधिक शक्ति माँगने का अधिकार है

हम प्राप्त शक्ति का यदि पूरा-पूरा उपयोग न करें, तो फिर अपनी शेष रखी हुई शक्ति ईश्वर हमें दे भी कैसे! बाप ने बेटे को व्यापार के लिए 10 हजार की पूंजी दी और उसने उसका उपयोग ही नहीं किया, तो बाप उसे एक लाख की पूंजी कैसे देगा? यदि पहली पूंजी का भलीभांति उपयोग करके दिखा देगा तो बाप कहेगा—'बचा हुआ सब कुछ तुम्हारा ही है।' हमारे और ईश्वर के बीच ऐसा ही सम्बन्ध है। वह अपने पास की सारी शक्ति हमें दे देने के लिए तैयार है, परन्तु उसकी आवश्यकता साबित होनी

चाहिए। यदि कोई प्राप्त होते जानेवाली शक्ति का उपयोग करते-करते यह साबित कर दे कि उसे ईश्वर की सारी ही शक्ति चाहिए तो ईश्वर प्रसन्न ही होगा। वह कहेगा—'वाह, ऐसा ही प्रयोगी भक्त तो मैं चाहता था।' परन्तु संसार में ऐसा कोई कार्य ही नहीं उत्पन्न हुआ, जिसके लिए ईश्वर की सम्पूर्ण शक्ति की आवश्यकता हो। अतः मनुष्य जितनी शक्ति की आवश्यकता सिद्ध करता है, उतनी उसे ईश्वर से निर्बाध मिलती रहती है। मनुष्य को कभी भी निराश होने या हार मानने की आवश्यकता नहीं। वह अपने पास की सारी शक्ति लगा दे, तो उसे अधिक शक्ति अवश्य ही मिलती है। अपने पास की शक्ति को पूरा-पूरा लगाये बिना भगवान् से यदि मदद मांगे, ते वह उसे क्यों देने लगा? भगवान् को अपना पुरुषार्थ दिखाकर स्वयं अपनी कीर्ति तो बढ़ानी है नहीं। क्या उसकी कीर्ति में बढ़ोतरी होना सम्भव है? उसका यश तो परिपूर्ण ही है। उसे तो आपका ही वैभव और यश बढ़ाना है। आप अपनी सारी शक्ति लगाकर प्रयत्न करें। थक जायें, तब ईश्वर को पुकारें। वह आपको और बल देगा।

45. इसके लिए गजेन्द्र-मोक्ष का परिष्कृत दृष्टांत

गजेन्द्र-मोक्ष का उदाहरण देते हुए भक्ति-मार्ग में यह बताया जाता है कि पहले गजेन्द्र ने अपनी शक्ति से विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अतः भगवान् उसकी सहायता के लिए नहीं आये। उसे अपनी शक्ति का अहंकार था। यदि गजेन्द्र को अपनी शक्ति पर अहंकार था, तो ईश्वर ने उसका गर्व-परिहार होने के बाद ही उसकी सहायता की, यह ठीक ही किया। परन्तु मान लीजिए कि एक ऐसा गजेन्द्र है, जिसे अपनी शक्ति का अहंकार नहीं है, परन्तु अपने बल का उपयोग किये बिना ही वह भगवान् से मदद माँगता है, तो इसमें अपनी शक्ति का उपयोग न करने का हठ भी अहंकार ही तो है। उसके पास जो बल है, उसे वह क्यों न लगाये? वह बल उसका अपना थोड़े ही है! है तो वह भगवान् का ही! मेरा बल भी भगवान् का ही है, ऐसी भावना से स्वशक्ति का उपयोग करना अहंकार नहीं होता। उलटे, अपने पास का बल न लगाना अहंकार, आलस्य और अश्रद्धा है। जो शक्ति तेरी नहीं है, ईश्वर की ही है, उसे तो तू रख छोड़ता है और ऊपर से उसी से सहायता माँगता है! अपने अंदर भगवान् की जो शक्ति मौजूद है, वह निरहंकार होकर पूरी-पूरी लगा दे और फिर अधिक शक्ति का आवाहन कर। अपने पास की शक्ति का पूरा उपयोग करते ही, जो नहीं है वह शक्ति ईश्वर देता ही है।

46. ईश्वर-शरणता में पराधीनता नहीं

परन्तु इसमें भी आखिर तो ईश्वर पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अतः किसी को लगेगा कि यह तो कुल मिलाकर पराधीनता ही हुई। परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि यों देखा जाये तो, ज्यों ही हमारी शक्ति खतम हुई त्यों ही पराधीनता आ गयी। परन्तु ईश्वर की शक्ति का आवाहन करना सचमुच में पराधीनता नहीं है। ईश्वर को यदि पराया मानें, तो वह पराधीनता होगी। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। कोट की जेब के दो हिस्से कर लिये और दोनों में पैसे भरकर रख लिये। दोनों हिस्से हैं तो अपनी ही जेब के न? अथवा कुछ रुपये आपकी अपनी ट्रंक में हैं, और कुछ बैंक में जमा हैं, ऐसा ही समझ लीजिए। ईश्वर और हम, दोनों एक ही चैतन्य के रूप हैं। हम अंशमात्र हैं, ईश्वर उस चैतन्य का पूर्णरूप है। तो भी चैतन्य तो एक ही है। अतः उसकी शक्ति हमारी शक्ति है। इसलिए ईश्वर से शक्ति माँगने और प्राप्त करने में पराधीनता नहीं है।

11

47. स्थूल सांसारिक कार्य ईश्वर की सहायता के विषय नहीं

हमने देखा कि मनो-निरोध संबंधी अपने प्रयत्नों की पराकाष्ठा हो जाने पर भक्ति को अवकाश मिलता है और तभी उसकी आवश्यकता भी उत्पन्न होती है। अपना प्रयत्न कर चुकने पर हम दूसरे की सहायता के लिए बेचैन हो उठते हैं। इस व्याकुलता में से ही भक्ति का जन्म होता है। इससे पहले व्याकुलता नहीं होती, अतः भक्ति नहीं रहती। श्रद्धा रह सकती है। सो पहले अपनी शक्ति लगाकर इन्द्रियाँ वश में कर ली जायें। विषयों से विमुख इन्द्रियाँ जब मन पर धावा करने लगें तब उस सूक्ष्म आक्रमण के प्रतिकार के लिए ईश्वर से सहायता माँगनी चाहिए। ऐसे सूक्ष्म और पवित्र कार्य के लिए ही ईश्वर की सहायता माँगना आस्तिकता है। लोगों में यह रिवाज पड़ गया है कि साधारण व्यावहारिक कार्यों में भगवान् से मदद माँगी जाती है। ऐसा करनेवाले लोगों को हम 'आस्तिक' कहते हैं। वास्तव में यह आस्तिकता नहीं है। परीक्षा में पास होने के लिए ईश्वर की सहायता माँगना कैसी आस्तिकता है? यह तो बेवकूफी है, पुरुषार्थहीनता है। खेत में फसल अच्छी नहीं हुई, माँगो ईश्वर से मदद; मानो इन सब

प्रश्नों का हल करने की शक्ति हमें उसने दी ही नहीं। ये ईश्वर की सहायता के विषय ही नहीं। सकाम भावना से बाह्य कार्यों में ईश्वर की सहायता माँगना शोभा नहीं देता।

48. ईश्वर से याचना - याचना की उचित रीति

'युद्ध में हमारी विजय हो'—ऐसी प्रार्थना दोनों पक्षवाले करते हैं। अब ईश्वर बेचारा खुद भी तो अपनी इच्छा रखता है। दोनों को विजय दिलाना उसके लिए संभव नहीं, परन्तु मैं उसे अपनी इच्छा का गुलाम मानता हूँ। मैं अपेक्षा रखता हूँ कि वह मेरी इच्छा के अनुसार अपनी दैवी शक्ति का उपयोग करे। उसकी इच्छा के अनुकूल अपनी इच्छा बनाना आस्तिकता है। परन्तु मैं इससे उलटा ही करता हूँ। मैंने अपनी यह इच्छा तय ही कर डाली कि मेरी विजय हो। उससे सिर्फ सफलता की माँग करता हूँ। वास्तव में प्रार्थना तो यह करनी चाहिए कि 'यदि मेरा पक्ष न्याय का हो तो मेरी विजय हो, नहीं तो मेरी हार होने दे, जिससे मेरी बुद्धि तो शुद्ध होगी।'

महाभारत की एक कथा है—अंधे धृतराष्ट्र की सहानुभूति में गांधारी ने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध रखी थी। उसका पुत्र दुर्योधन युद्ध के लिए प्रस्थान करने से पहले उसके पैर छूने आया, तो उसने आशीष दी—'तू सन्मार्ग पर चल रहा हो तो तेरी विजय हो!' यही सच्चा आशीर्वाद है। 'भगवान्, मेरी खोयी हुई चीज मुझे मिल जाये'—ऐसी प्रार्थना भगवान् से क्यों की जाये? प्रार्थना यही करनी चाहिए—'वस्तु मिले या न मिले, पर मेरी शीन्त न डिगे!' बच्चा बीमार पड़ा, तो लगे प्रार्थना करने—'मेरा बच्चा न मरे!' यह भी कोई प्रार्थना हुई? मनुष्य कभी-न-कभी मरने ही वाला है। यदि ऐसी याचना करनी हो कि वह अब न मरे, तो फिर यह तय कीजिए कि फलां वक्त मरने में हर्ज नहीं है। अभी नहीं, 28 तारीख को मरे—ऐसी निश्चित माँग भगवान् से करो। पर ऐसी माँग करेगा कौन? अत: माँगना ही हो, तो भगवान् से यह माँगना चाहिए—'लड़का मरनेवाला हो तो भले ही मरे, परन्तु मरते समय उसे मानसिक व्याकुलता न हो।'

49. हमारे लिए क्या उचित है, यह स्वयं ईश्वर ही जानता है, अत: सकाम प्रार्थना न करें

पहले हम यह तय ही कर लेते हैं कि हमारे लिए क्या योग्य है, फिर ईश्वर से मदद माँगते हैं। मतलब यह हुआ कि हम भगवान् को अपनी बुद्धि का गुलाम बनाना चाहते हैं। उपनिषद् में एक कथा है—

भगवान् किसी पर प्रसन्न हुए। उससे भगवान् ने कहा—'वर माँग!' वह बोला, 'प्रभो, मैं क्या जानूँ? मैं यह भी कहाँ जानता हूँ कि मेरे लिए क्या योग्य है? तुम ही सब कुछ जानते हो। जो मेरे लिए उचित हो, वह तुम ही दे दो।' वह भक्त परीक्षा में पास हो गया। वही वास्तविक परीक्षा का समय था। उस समय उसने स्वयं निर्णय कर भगवान् पर लादने की कोशिश नहीं की। मेरा हित इसी में है कि भगवान् मेरी बुद्धि के अनुसार चलने के लिए तैयार नहीं होता। वह यदि मेरी बुद्धि के अनुसार चलने को तैयार हो गया, तो यही निश्चित समझो कि मेरा अहित कर मुझे अक्ल सिखाना चाहता है। हम अपनी बुद्धि को प्रमाण मानते हैं और फिर चाहते हैं कि हमारी बुद्धि के निर्णय के अनुसार भगवान् चलें। इसके मानी है कि भगवान् को हम अपनी बुद्धि के अनुसार चलनेवाला नौकर समझते हैं। भले ही वह शक्तिशाली हो, पर है तो नौकर ही! निर्णय का विचार करने का उसे अधिकार नहीं। विचार करेंगे हम, निर्णय करेंगे हम। हम हैं 'विधान-मण्डल'; वह है सिर्फ अमल में लानेवाले महकमे का हाकिम। किसी जड़ उपकरण की तरह भगवान् से काम लेने की इच्छा जड़ता का लक्षण है। अहंकार का तो है ही। इसमें भगवान् का अपमान है, नास्तिकता है। जड़ता का यह अंश सभी धर्मों में भक्ति के नाम पर आ घुसा है। सकाम कर्मों में भगवान् की सहायता माँगना भक्ति का लक्षण नहीं। गीता ने इसी लिए स्थान-स्थान पर सकामता पर प्रहार किया है। मानो उसका सकामता से खुला विरोध ही है।

50. सकाम भक्ति को भी सशर्त मान्यता

परन्तु गीता में भगवान् ने दया-भाव से कहीं-कहीं ऐसा भी कहा है कि भक्त यदि सकाम-भाव से मेरी शरण आया, तो भी मैं उसे फल देता हूँ। मैं उसकी उतनी कामना पूर्ण कर देता हूँ। परन्तु वह दया-भाव से दिया गया आश्वासन मात्र है। वह कोई शास्त्र नहीं है। जो हित चाहता है, उसे तो निष्काम-भाव से ही भगवान् की शरण जाना चाहिए। सकाम-भाव से शरण जानेवाले को भी फल का आश्वासन दिया है, किन्तु वह सकाम प्रार्थना की कोई अनुज्ञा नहीं है। कोई सकामता से ही क्यों न हो, परन्तु अनन्यभाव से ईश्वर की शरण आया तो भी बहुत हुआ, ऐसी करुणा उसमें निहित है। सकामता में मूढ़ता तो है ही, अवनति की सम्भावना भी है; परन्तु अनन्यभाव हो तो उन्नति भी संभव है। उसका अर्थ यह है कि सकामता के नष्ट हो जाने की संभावना है। अनन्यभाव से, व्याकुल हृदय से, यदि सकाम प्रार्थना भी की, तो ईश्वर के स्पर्श से वृत्ति पवित्र हो जायेगी। परन्तु साधारणतः मनुष्य सकाम-प्रार्थना अनन्यभाव

से नहीं करता। ईश्वर पर उसकी न तो पूरी-पूरी अश्रद्धा होती है, न श्रद्धा ही। बीमार होने पर इधर डॉक्टरों के पैर पकड़ता है, उधर ब्राह्मणों से अनुष्ठान कराता है। उसकी श्रद्धा भी दोलायमान और पुरुषार्थ भी अधकचरा! ऐसी दुर्बल श्रद्धा अधःपात का कारण होती है। सकामता गौण स्तर की चीज होने पर भी यदि उसके साथ अनन्य-भक्ति का योग हो, तो वह चल सकती है। अनन्यनिष्ठा से वह सकामता भी पावन हो जायेगी। वस्तुतः निष्कामता और अनन्यता का योग ही इष्ट है, वांछनीय है।

छठाँ व्याख्यान

12

51. अब तक के विवेचन का सारांश:

यतत् + विपश्चित् + मत्पर = स्थितप्रज्ञ

इन्द्रिय-निरोध का जितना स्थूल कार्य है, उतना तो साधक को स्वशक्ति से कर लेना चाहिए। परन्तु इतने से, अर्थात् स्थूल निग्रह से इन्द्रियजय पूरा नहीं होता। मन में से उसका रस, स्वाद, मिट जाना चाहिए, किन्तु इन्द्रियाँ जब मन पर हमला करती हैं, तब मनुष्य की दोनों शक्तियाँ, जिन्हें हमने ज्ञान और तितिक्षा कहा है, अपर्याप्त साबित होती हैं। इन शक्तियों को विवेक और वैराग्य भी कह सकते हैं। कब इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए और कब संयम—यह जानने की शक्ति 'विवेक' है। विवेक द्वारा निग्रह और संयम के अवसरों को पहचान लेने के बाद उसके अनुसार चलने की शक्ति 'वैराग्य' है। परन्तु इस तरह विवेक-वैराग्यपूर्वक इन्द्रिय-निरोध का प्रयत्न करने पर भी रस शेष रह जाता है। अतः रस-निवृत्ति के लिए 'मत्परायण' होने को कहा। विवेक और वैराग्य, इन दोनों शक्तियों का उपयोग करने के बाद तथा उपयोग करते हुए ईश्वर-परायण होकर रहना चाहिए। इस प्रकार इन तीन श्लोकों में इन्द्रिय-जय की परिपूर्ण व्याख्या और साधना बतायी है। इन्द्रियों के निग्रह और संयम द्वारा कामना-मुक्ति प्राप्त करना इन्द्रिय-जय की परिपूर्ण व्याख्या है। इसकी तिहरी साधना तीन विशेषणों द्वारा दरसायी है—यतत्, विपश्चित् और मत्पर। इन तीन विशेषणों का योग यानी गीता का 'स्थितप्रज्ञ'। इस प्रकार इन्द्रिय-निरोध-सम्बन्धी विज्ञान के प्रतिपादक इन तीन श्लोकों का त्रिक समाप्त हुआ।

52. ईश्वर-परायणता स्वतंत्र ध्येय है

परन्तु यहाँ की भाषा का जो अर्थ अब तक हमने किया है, उससे भी गहरा अर्थ वह रखती है। इन्द्रिय-निरोध में मनुष्य की दोनों शक्तियाँ अपर्याप्त होती हैं, अतः उसकी पूर्ति के लिए साधक ईश्वर-परायण हो, इतना ही यहाँ नहीं कहा गया है; बल्कि युक्तिपूर्वक यथासंभव इन्द्रिय-निग्रह साधकर ईश्वर-परायण होकर रहे, ऐसी भाषा यहाँ है। इस भाषा का यहाँ यह गहरा अर्थ है कि ईश्वर-परायणता स्वतंत्र ध्येय है और यही अर्थ शास्त्रीय दृष्टि से ठीक भी है। सो कैसे, यह अब देखना चाहिए।

53. ध्येय विधायक होना चाहिए

मन पर इन्द्रियों का आक्रमण होते ही साधक मन के दोष निकालने में लग जाता है; परन्तु ऐसा सतत् चिन्तन करते रहने से कि 'मन का विकार निकाल डालना चाहिए, निकाल डालना चाहिए, निकाल डालना चाहिए', वह विकार निकलने के बजाय उलटा पक्का हो जाता है, क्योंकि मन उसी का चिन्तन करता रहता है। इसे विरोधी भक्ति कहते हैं। दुर्जनता का, प्रतिकार के ही लिए क्यों न हो, चिन्तन करते रहने से चित्त में दुर्जनता उत्पन्न होती है। विरोधी चिन्तन से विकार नष्ट होने के बदले उलटे गहरी जड़ जमा लेता है। भागवत में लिखा है कि 'विरोधी चिंतन से कंस कृष्णमय हो गया था'। अनुभव भी है कि केवल निषेधक साधना से मनुष्य विकार में ग्रस्त हो जाता है। 'विषय-रस को मन से निकाल डालना चाहिए', ऐसा निषेधक साध्य सामने रखने से निषेधक साधन प्राप्त होगा। अतः दृष्टि के सामने कोई विधायक ध्येय और उसके अनुरूप कोई विधायक साधना होनी चाहिए। ब्रह्म-प्राप्ति की व्याकुलता विधायक ध्येय है।

54. ब्रह्मचर्य अर्थात् ईश्वरपरायणता ऐसा विधायक ध्येय है

ब्रह्म में तन्मय होने का अर्थात् ईश्वर-परायण होने का प्रयत्न करना विधायक साधना है। इसी को 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं। वृत्ति का ब्रह्म से या ईश्वर से तादात्म्य होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल इन्द्रिय-निग्रह नहीं है। इन्द्रिय-निग्रह कोई स्वतंत्र अथवा अन्तिम साध्य नहीं है। उद्देश्य तो प्रज्ञा को स्थिर करना है। इन्द्रिय-निग्रह प्रज्ञा को स्थिर करने का साधन है। परन्तु 'प्रज्ञा स्थिर करना' यानी वह कहाँ स्थिर की जाये? सब ओर से उसे हटाकर स्थिर किस जगह किया जा ये ? उसे स्थिर होने के लिए कोई स्थान चाहिए न ! इसका उत्तर है—उसे ईश्वर में स्थिर किया जाये। यहाँ यह नहीं कहा कि 'इन्द्रिय-निग्रह के लिए मत्परायण होओ, कामनानिवृत्ति के लिए मत्परायण होओ।' यह तो निषेधक अर्थ हुआ। यह पूर्ण अर्थ नहीं है। इस वचन का विधायक अर्थ है—'इन्द्रिय-निग्रह करके मत्परायण होओ।' कामनाएं यदि बाहर से निवृत्त हों तो फिर उन्हें ठहरने का, रहने का स्थान कौन-सा? आत्मा ही वह स्थान है। यही आत्मा यहाँ 'मत्परायण' शब्द में ध्वनित किया गया है। कामनारूपी आलंबन यदि निकाल लिया, तो मन निरालंब और खाली हो जायेगा। उस दशा में वह अधिक समय तक नहीं रह सकता। इसलिए उसे

ईश्वर का आधार देकर ईश्वर-चिन्तन से भर देना है। वह जब ईश्वर-चिन्तन में मग्न हो जायेगा, तो फिर उस पर इन्द्रियों के आक्रमण की सम्भावना ही नहीं रह जायेगी।

55. ईश्वर-भक्ति ईश्वर-भक्ति के ही लिए है

पहले कहा गया कि इन्द्रिय-निरोध की पूर्णता के लिए ईश्वर-भक्ति की सहायता लेना उचित है। परन्तु वह कथन भी पूर्ण नहीं है; क्योंकि बाद में ध्यान में आया कि ईश्वर-भक्ति किसी का भी साधन नहीं, वरन् स्वयं ही स्वयंभू साध्य है। ईश्वर-भक्ति का कोई भी अवांतर उद्देश्य नहीं हो सकता। ईश्वर-भक्ति ईश्वर-भक्ति के ही लिए है। आजकल हम 'कला कला के लिए', 'विद्या विद्या के लिए', 'ज्ञान ज्ञान के लिए', ऐसी भाषा सुनते हैं, परन्तु यह टिकनेवाली नहीं। सांख्यों ने इस विषय में पहले ही निर्णय दे रखा है। जड़ वस्तु स्वयं अपने लिए हो ही नहीं सकती। प्रकृति प्रकृति के लिए नहीं है, प्रकृति पुरुष के लिए है। कला आत्मा के लिए है। विद्या और ज्ञान मेरे लिए हैं। जड़ जड़ के लिए, यह भाषा गलत है; किन्तु यह भाषा और सब बातों में गलत साबित हो, तो भी ईश्वर-भक्ति के विषय में सच है। 'ईश्वर-भक्ति के लिए ही ईश्वर-भक्ति' यह भाषा गलत नहीं है; क्योंकि ईश्वर जड़ वस्तु नहीं, बाह्य वस्तु नहीं, वह तो मेरा ही परिशुद्ध रूप है। अतः ईश्वर-भक्ति ही ध्येय है और दूसरी सब साधनाएं उसी के लिए हैं, ऐसा होना चाहिए।

56. भक्त की भूमिका प्राकृतिक चिकित्सक की तरह

बीमारी आ गयी है। उसका उपचार चल रहा है। बीमारी क्यों दूर होनी चाहिए? बीमारी दूर करना कोई स्वतंत्र ध्येय नहीं। ध्येय तो आत्म-कल्याण है। आत्म-कल्याण के लिए यदि बीमारी का दूर होना आवश्यक हो, तो दूर होना इष्ट है; यदि दूर न होना आवश्यक होगा तो दूर न होना इष्ट साबित होगा। एक बार एक शास्त्रज्ञ से बातचीत हुई। वे प्राकृतिक चिकित्सा के समर्थक थे। उनसे पूछा, 'आपके शास्त्रानुसार क्या सभी रोगी चंगे हो जाते हैं?' उन्होंने कहा, 'नहीं, सब रोगी नहीं अच्छे होते, सब रोग अच्छे होते हैं।' उनकी भाषा सुनिश्चित थी। उनकी पद्धति में जो रोगी मरने लायक होते हैं, वे मर जाते हैं, परन्तु मरते हैं शान्तिपूर्वक। अच्छे होने लायक रोगी अच्छे हो जाते हैं। वे भी शान्तिपूर्वक अच्छे होते हैं। यही बात यहाँ भी है। भक्त की भूमिका इस प्राकृतिक चिकित्सक की तरह है। वह कहता है, 'ईश्वर

की योजना के अनुसार मेरी आत्मोन्नति के लिए बीमारी दूर होना अभीष्ट हो तो दूर हो। उसकी योजना के अनुसार आत्मोन्नति के लिए दूर न होना अभीष्ट हो तो दूर न हो।' वह तो बाकी सब अन्य निर्णयों का भार परमात्मा पर छोड़कर छुट्टी पा लेता है। उसकी बुद्धि ने एक ही निर्णय कर रखा है—मुझे आत्मोन्नति चाहिए, ईश्वर-भक्ति चाहिए। इतना ही वह जानता है और कुछ नहीं जानता। वह सब बाह्य कर्म ईश्वर-भक्ति के लिए करता है। किसी भी बाह्य काम के लिए वह ईश्वर-भक्ति 'एक्सप्लॉइट' नहीं करना चाहता, ठगना नहीं चाहता।

13

57. अनन्यता सकामता को भी बचा लेती है

अब यहाँ यह सहज ही पूछा जा सकता है कि भले ही गौण रूप में क्यों न हो, और अनन्यता की शर्त पर ही क्यों न हो, गीता ने सकाम भक्ति को जो स्थान दिया, वह क्यों दिया? इसका उत्तर यह है कि कामना-पूर्ति के लिए भी यदि किसी ने दूसरे सब अवांतर आधार छोड़कर एक ईश्वर का पल्ला अनन्यभाव से पकड़ लिया, तो यह समझना चाहिए कि उसने भी एक उत्तम निश्चय किया। और सब आधारों को छोड़कर एक ईश्वर पर ही भरोसा रखना कोई छोटा-मोटा निश्चय नहीं है। अतएव सकामता गौण स्तर की होने पर भी यही निश्चय आत्मोन्नति में साधक होता है। आगे नौवें अध्याय में तो इससे भी एक कदम आगे बढ़कर कहा है—'मुझे अनन्यभाव से भजनेवाला अत्यन्त दुराचारी हो, तो भी शीघ्र ही उसकी भावना शुद्ध हो जाती है।' **क्षिप्रं भवति धर्मात्मा**— वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है। यह अनन्यता की सामर्थ्य है। बीमारी आयी, उसे दूर करने की चिन्ता लगी, तो डाल दिया सारा भार भगवान् पर ही। न डॉक्टर चाहिए, न वैद्य। खाना-पीना भी छोड़ दिया। 'भगवन्, मुझे रोग-मुक्त करो' कहकर अनन्यभाव से उसी को पुकारा। ईश्वर उसकी श्रद्धा देखकर या तो उसे अच्छा ही कर देगा या प्रत्यक्ष दर्शन देकर उसे अपने पास भी बुला लेगा। यदि दूसरी बात होती है, तो ऐसा दिखायी देगा कि उसकी कामना पूरी नहीं हुई; परन्तु भगवान् पर अनन्य श्रद्धा होने के कारण भक्त को ऐसा ही अनुभव होगा कि मेरा तो अत्यन्त कल्याण हुआ।

58. सुदामदेव का दृष्टान्त

इस विषय में सुदामदेव का उदाहरण बहुत उत्तम है। दरिद्रता से अतिशय पीड़ित होने के कारण उनकी पत्नी ने उन्हें श्रीकृष्ण के पास भेजा। श्रीकृष्ण ने उन्हें कुछ न देकर खाली हाथ घर लौटा दिया। खुद उन्हें पहुँचाने बड़ी दूर तक साथ आये। सुदामदेव कुछ चिवड़ा पल्ले में बांधकर ले गये थे, सो भी गँवाकर खाली हाथ लौटे। पर मन में बहुत आनन्द हो रहा है। 'पत्नी ने मुझे कामना के साथ भगवान् के यहाँ भेजा था। पर यह माधव कितना दयालु है! इसने मेरी ऐसी-वैसी कामना पूर्ण नहीं की' यह कहते हुए, वे अपनी भक्ति को पुष्ट करते हुए, घर लौटे। देखते हैं कि सारा गांव सोने का बन गया है। कहने लगे, 'भगवान् का कैसा अनुग्रह कि उसने सारा गाँव ही सोने का बना दिया! यह मेरे तुच्छ सुखापभोग के लिए थोड़े ही है। भगवान् की यह देन जनता की सेवा में ही लगायी जाये।' भगवान् ने दिया तो भी अनुग्रह, न दिया तो भी उसका अनुग्रह ही। ऐसी अनन्यता की भावना में भक्त की महिमा समायी हुई है।

59. भक्त को सब बातों में ईश्वरकृपा ही दिखायी देती है

एकनाथ को भगवान् ने मनोनुकूल पत्नी दी। उन्हें लगा—'भगवान् का कितना अनुग्रह है मुझ पर! अब इसकी सहायता से जल्दी ईश्वरप्राप्ति करूँगा।' तुकाराम को अनुकूल पत्नी नहीं मिली। वे कहते हैं—'भगवान् का मुझ पर कितना अनुग्रह है कि उसने मुझे मनमाफिक स्त्री नहीं दी, अन्यथा मैं अवश्य ही इस संसार में फँस जाता!' पत्नी अनुकूल मिली तो भी कृपा, प्रतिकूल मिली तो भी कृपा। बिलकुल न मिले तब भी कृपा और मिलकर मर गयी तो भी कृपा ही! **बाइल मेली मुक्त झाली। देवें माया सोडविली। विठो तुझें माझें राज्य।** ('पत्नी मर गयी और मुक्त हो गयी। भगवान् ने मुझे माया से छुड़ा लिया। प्रभुजी अब हम दोनों का राज्य।') भगवान्, तेरे-मेरे बीच एक परदा था, अब हम दोनों का एकच्छत्र राज्य हो गया।' इस तरह भक्तों को सब बातों में परमेश्वर की कृपा ही दीख पड़ती है। अनन्य भक्त की भूमिका की यही महिमा है।

60. अनन्य भक्त की सकामता व्यापक सद्भावना ही है: एक लौकिक दृष्टान्त

कामनापूर्वक, परन्तु अनन्यता से की गयी ईश्वर-भक्ति में उद्देश्य गौण होने अथवा दिखायी देने पर भी अनन्यता के कारण भगवान् की कृषा से चित्त-शुद्धि होती है; अथवा दूसरी भाषा में सकामता का लोप होकर निष्कामता की प्राप्ति होती है; अथवा और भी दूसरी भाषा में कहें तो सकामता ही निष्काम बन जाती है। बल्कि अनन्यता से युक्त सकामता, सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो, संकुचित सकामता नहीं, वरन् व्यापक सद्भावना ही होती है। इसके लिए हम बड़े उदाहरणों के बजाय एक छोटा-सा लौकिक उदाहरण ही लें। मान लीजिए कि एक स्त्री की ईश्वर पर अनन्य भक्ति है। उसकी नथ खो गयी है और वह चाहती है कि मिल जाये। वह कहती है—'भगवन् मेरी नथ मिल जाये। देख, मैंने तेरी भक्ति में जरा भी कसर नहीं रखी है। फिर भला मेरी नथ क्यों खो गयी? और उसे लेने की इच्छा भी किसी को क्यों हुई? अब मैं तो उसे खोजने की कोई भी कोशिश करूँगी नहीं, पुलिस में भी रिपोर्ट नहीं करूँगी। मन से भी किसी पर संदेह नहीं करूँगी। जिस किसी ने ली है, उसमें तू ही सद्भावना जाग्रत कर देगा तो वह वापस ला देगा। उस हालत में मैं प्रसाद चढ़ाऊँगी। जिसने चुरायी है, उसे उसमें से आधा प्रसाद दूंगी। उसके प्रति तुच्छ भाव मन में न आने दूंगी और मैं तेरी भक्ति और भी जोर से करूँगी। यदि तूने उसे ऐसी सद्बुद्धि न दी तो मैं उस पर क्रोध नहीं करूँगी, तुझ पर करूँगी और उस क्रोध में पहले से और भी तीव्र भक्ति करने लगूँगी। अब तुझे जो कुछ करना हो सो कर!' जब अनन्य भक्ति और सकामता, दोनों की एकत्र कल्पना की जाती है, तब उसका इतना गहरा अर्थ होता है। अब इस कल्पित स्त्री की नथ-विषयक कामना वास्तव में क्या है? संसार में किसी के मन में चोरी की प्रेरणा न हो, संसार की वासना शुद्ध रहे—यही न अर्थ हुआ उस कामना का! इतना होने पर अब यह तो ईश्वर की मर्जी पर ही रहा कि वह इस नथ को वापस दिला देगा या नहीं। उसके शास्त्र के अनुसार जो उचित होगा, सो वह करेगा। उसका शास्त्र निश्चित है, पर हम उसे नहीं जानते। यदि हमें वह मालूम हो जाये, तो फिर हम ही ईश्वर न हो जायें! उसका शास्त्र जो-कुछ हो, उस स्त्री को तो दोनों दृष्टियों से भक्ति ही करनी है। अनन्य भक्ति और सकामता के योग से क्या फलित निकलता है, यह बात इस उदाहरण से समझ में आ जायेगी।

61. ईश्वर-परायणता ही मुख्य वस्तु है। वासना को भी ईश्वर-परायण बनाओ

इस सबका अर्थ यह हुआ कि अवांतर कामना तो क्या, इन्द्रिय-निग्रहरूपी साधना भी गौण है; ईश्वर-परायणता ही मुख्य वस्तु है। गीता का थोड़े में, किन्तु दृढ़तापूर्वक कथन है—'तू मत्परायण हो और रुचिपूर्वक विषयाधीन न हो तो बस है। इससे तेरी सारी वासनाएं धुलकर साफ हो जायेंगी।' चित्त में वासनाएं उठती रहें, परन्तु उसके अनुकूल बाह्य कृति न होने दें तो बस है। वासनानुकूल कृति करने से वासना पक्की हो जाती है, अतः ऐसा न कर। परन्तु दूसरी ओर साधक के बाह्य इन्द्रिय-निग्रह कर लेने पर भी चित्त की वासना छूट तो नहीं जाती! वह भीतर ही भीतर धुंधुआती है और सताती रहती है। चित्त को चैन नहीं पड़ने देती। तो वह कया करे? तो कहते हैं कि उस वासना को ही ईश्वर-परायण कर दे। एकनाथ ने भगवान् से प्रार्थना की है—'मेरे चित्त में जो-जो वासनाएं उठें, वे तू ही हो जाये।' इस तरह तमाम वासनाओं का रूपान्तर हो जाता है। वासना ईश्वरमय हो जाती है। भक्ति से वह उन्नत हो जाती है।

62. वासना मूलतः बुरी नहीं है; ईश्वर-परायणता से वासना का रूपान्तर होता है

वस्तुतः किसी भी मनुष्य में बुरी वासना रहती ही नहीं है; पर वह स्वयं भी इस बात को नहीं जानता, दूसरे भी नहीं जानते। बाह्य वस्तु की प्राप्ति के लिए वह दौड़-धूप करता दिखायी देता है। सारी बाह्य सृष्टि मेरी हो, इसके लिए वह प्रयत्न करता है। कभी-कभी तो निषिद्ध वस्तु की प्राप्ति के लिए भी वह प्रयत्न करता हुआ दीखता है। वस्तुतः शरीर-बद्ध आत्मा का व्यापक होने का वह प्रयत्न है। वह विराट-सृष्टि से अपनी दृष्टि के अनुसार एकरूप होना चाहता है। उस शरीर के संकुचित दायरे में उसे चैन नहीं पड़ती। शराबी शराब पीता है। उसके मूल में भी वही बेचैनी है। भक्ति-मार्ग उस शराबी से कहेगा—'तू यह बाहरी तुच्छ शराब पीना बन्द कर दे। भगवान् को ही तू अपनी शराब बनने दे। उसकी भक्ति की शराब पीता जा।' उमर खय्याम की रुबाइयों में यही रूप दिखायी देता है। **वासो यथा परिकृतं मदिरा-मदांधः**—ऐसी स्थिति उस भक्तिरूपी शराब के पीने से हो जाती है। इस तरह भगवान् को अर्पण करने से वासना को दिव्य रूप प्राप्त होता है। इसलिए भगवान् कहते हैं—मत्परायण हो। चित्त में विषयवासना

पैदा हो तो भी घबरा मत, किंकर्तव्यविमूढ़ मत बन। मात्र विषयभोग में मत पड़, वासना ईश्वर को चढ़ा दे। काम-क्रोध भी उसी को चढ़ा दे। इससे उन विकारों का और तेरी वासना का रूपान्तर ही हो जायेगा और तब चित्त के विकार शमन होकर प्रज्ञा स्थिर हो जायेगी।

63. निष्कामता, अनन्यता और ईश्वरभावना हो तो फिर भौतिक विद्या की उपासना भी पावन हो सकती है

भौतिक विद्या की उपासना में भी यदि निष्कामता, अनन्यता और ईश्वर-भावना हो, तो चित्त-शुद्धि हो सकती है। इस दृष्टि से भौतिक और आध्यात्मिक, ऐसा भेद ही नहीं रह जाता। यह भेद वास्तव में यथार्थ नहीं है। गणितोपासक का गणित ही ईश्वर हो जायेगा, अगर उस भावना से उसकी साधना हो रही हो। एक गणितशास्त्रज्ञ की बात है कि उसने एक अपूर्व शोध की। संसार के ज्ञान में वृद्धि कर देनेवाली योग्यता की यह शोध उसने कागज पर लिखकर रखी। बाद में संयोग से वे तमाम कागज कहीं नष्ट हो गये, परन्तु वह गणितज्ञ शान्त ही रहा। उसके चित्त में जरा भी क्षोभ नहीं हुआ। केवल गणित से इतनी शान्ति मिलना सम्भव नहीं है। ऐसा ही मानना होगा कि वह गणित की उपासना ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर रहा था। हो सकता है कि वह ईश्वर का नाम भी न लेता हो। परन्तु इससे उसकी उपासना में अंतर नहीं पड़ता। मुझ-जैसा कोई सूत-कताई में तन्मय हो जीयेगा। कोई दूसरा किसी और पवित्र सामाजिक उद्योग में तन्मय हो जीयेगा। उन-उन विषयों को जो ईश्वर-स्वरूप देखकर उनकी उपासना करेगा, उसके चित्त पर इन्द्रियों का आक्रमण नहीं हो सकेगा। जो लोग केवल भौतिक दृष्टि से विज्ञान की अथवा अन्य विषयों की साधना करते हैं, उन्हें यह सिद्धि निश्चय ही नहीं मिल सकती। कारण स्पष्ट ही है। भौतिक विषय अंततः आत्मा से भिन्न पड़ जाते हैं। आत्मभिन्न अनात्म विषयों में लीन होने का कितना ही प्रयत्न आत्मा करे, तो भी वह कैसे सफल होगा? वे ही विषय यदि ईश्वर-भावना से भावित हो जायें, तो फिर उनमें आत्मा को लीन होने में कोई कठिनाई नहीं रहती। उनमें वह पूर्णतः विसर्जित हो सकता है।

३. परिणामाधिकरणम्

सातवाँ व्याख्यान

15

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥

64. इन्द्रिय-जय के तत्त्वज्ञान की प्रस्तावना: विषय-चिन्तन से बुद्धिनाश तक की व्यतिरेक-परम्परा

स्थितप्रज्ञ का प्रकट लक्षण है, जितेन्द्रियता। उसका विस्तार बीच के दस श्लोकों में किया गया है। उनमें से तीन श्लोकों का पहला विज्ञान-परिच्छेद समाप्त हुआ। अब अन्वय-व्यतिरेक द्वारा विवेचन किया गया है कि इन्द्रिय-जय का प्रज्ञा से क्या सम्बन्ध है? पहले दो श्लोकों में व्यतिरेक से और आगे के दो श्लोकों में अन्वय से स्थितप्रज्ञता के लिए इन्द्रिय-जय की आवश्यकता बतायी गयी है। यहाँ से इन्द्रिय-जय का तत्त्वज्ञान प्रारम्भ होता है।

65. विषय-चिन्तन से संग और संग से काम पैदा होता है

जो इन्द्रिय-निरोध नहीं कर पाया है, जो विषयों का ध्यान करता रहता है, उसे उस विषय का संग लग जाता है। संग का अर्थ है संगति, परिचय। विषय का संग लगता है, इसका अर्थ है विषयों में लगाव का उत्पन्न होना। मन विषय में लिप्त होने लगता है। उससे काम पैदा होता है। पहले विषयों का ध्यान, फिर संग, और फिर काम, ऐसा उत्तरोत्तर क्रम है। इन तीनों वृत्तियों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है; बल्कि ये एक ही वृत्ति के तीन रूप हैं। उद्गम से लेकर मुख तक बड़ी नदी के अनेक नाम होते हैं, तो भी उसका प्रवाह एक ही रहता है। उसी तरह एक ही प्रवाहशील वृत्ति के ये तीन नाम हैं। मिट्टी और मिट्टी की बनी वस्तुओं में आखिर अंतर क्या होगा? चिन्तन द्वारा विषय से परिचय होता है, अर्थात् विषय मन में साकार होने लगता है। कोई मनुष्य किसी मित्र के आग्रह से सहज देखने के लिए शराब की दुकान पर चला गया। फिर अपने मित्र के खिंचाव से बार-बार जाने लगा। इस खिंचाव का नाम है—'संग'। फिर उस

विषय में रमणीयता, सुन्दरता, आकर्षण, रस, मिठास, रंजन अनुभव होने लगते हैं। यही 'काम' है। गीता कहती है कि इसी काम से फिर 'क्रोध' उत्पन्न होता है—**कामात् क्रोधोऽभिजायते।**

66. फिर काम से क्रोध उत्पन्न होता है: इस विषय में भाष्यकारों के स्पष्टीकरण

यहाँ वास्तविक कठिनाई मालूम होती है। यहाँ विचारकों की फजीहत हुई मालूम होती है। यह प्रश्न विकट हो बैठा है कि काम से क्रोध कैसे उत्पन्न होता है? आगे चलकर क्रोध से मोह, मोह से स्मृतिभ्रंश, उससे बुद्धिनाश तक सीढ़ियां सीधी मालूम होती हैं, परन्तु यह ठीक से समझ में नहीं आता कि काम में से क्रोध कैसे पैदा होता है। शंकराचार्य ने भाष्य में **'कामात् कुतश्चित् प्रतिहतात् क्रोध: अभिजायते'** ऐसा हल निकाला है। वे कहते हैं—काम जब प्रतिहत होता है, तो उसमें से क्रोध उत्पन्न होता है। परन्तु यदि ऐसी तरकीब निकाल ली कि वह प्रतिहत न हो, तो फिर काम से क्रोध कैसे पैदा होगा? इसका अर्थ यह हुआ कि काम से क्रोध पैदा होता है, यह वाक्य सदा के लिए सत्य नहीं साबित होगा। काम में यदि कोई रुकावट न पड़ी, तो फिर इस वाक्य की इमारत ढहने लगती है। इसलिए गांधीजी ने इसका एक और रास्ता निकाला है—"काम कभी पूरा होता ही नहीं", ऐसी टिप्पणी उन्होंने दी है। साधारणतः यह बात ठीक है। सारे संसार का अनुभव है कि काम कभी भी पूर्ण नहीं होता। वासना बढ़ती ही जाती है, तृप्ति कभी होती ही नहीं। दस हजार मिले, तो लाख की इच्छा होती है। लाख के बाद दस लाख की और फिर करोड़ की। गणित की संख्या का अंत नहीं। वासना का भी अंत नहीं। ययाति का वचन प्रसिद्ध ही है—'आहुति डाली हुई अग्नि की तरह भोग से काम सदा बढ़ता ही जाता है।' इस तरह गांधीजी की युक्ति सामान्यतः लाजवाब मालूम होती है, परन्तु शंकराचार्य और उनकी युक्ति प्रायः एक-सी है। जब कि कामना का अंत नहीं है, तो कहीं-न-कहीं से उसमें बाधा पैदा होगी ही, और फिर क्रोध पैदा हुए बिना नहीं रहेगा—यह है शंकराचार्य का भाव। काम को गीता में 'अनल' कहा है। वह कभी 'अलम्' अर्थात् 'बस' होता ही नहीं।

67. एकनाथ की एतद्विषयक युक्ति

लेकिन इतने पर भी फजीहत से छुटकारा नहीं होता। यदि किसी ने बाहरी परिस्थिति को अपनी कामना के अनुकूल बना लिया या कामना को उसके अनुकूल कर लिया, तो फिर क्रोध के लिए गुंजाइश

कहाँ रही? कामना और परिस्थिति में मेल हो जाने से कामना में बाधा पैदा होने की संभावना कम हो गयी, तो फिर काम में से क्रोध पैदा होता है, यह वाक्य बाधित हुआ ही! इस पर एकनाथजी ने भागवत में एक और ही युक्ति निकाली है। वे कहते हैं—"काम या तो पूरा होगा या अधूरा रहेगा। अधूरा रहा तो क्रोध पैदा होगा और पूरा हो गया तो लोभ को जन्म देगा। अतः क्रोध शब्द का अर्थ क्रोध और लोभ मिलाकर व्यापक करना चाहिए।" फिर संमोह होगा, तो वह क्रोध से होगा या लोभ से। नरक के तीन दरवाजे बताते हुए गीता ने काम और क्रोध के साथ लोभ को जोड़ा ही है; अनुभूति भी ऐसी ही है कि काम से क्रोध और लोभ पैदा होते हैं।

68. 'क्रोध' शब्द से यहाँ 'क्षोभ' समझना है

परन्तु इस समस्या को हल करने का तरीका वास्तव में दूसरा ही है। यहाँ हमें यह समझना है कि 'क्रोध' का एक विशेष अर्थ है। विषयों का ध्यान लगने से संग उत्पन्न होता है। 'संग' का अर्थ है विषय का साकार रूप ग्रहण करना। फिर वह कांत, कमनीय अर्थात् पाने योग्य लगता है। यह काम है, जिसमें से क्रोध को अवश्यंभावी कहा है। यह नहीं कहा कि कभी-कभी पैदा होता है। अतः क्रोध शब्द सामान्य अर्थ में नहीं आया है। क्रोध का स्थूल और हमारा परिचित अर्थ है गुस्सा, संताप। वह यहाँ अभीष्ट नहीं, बल्कि चित्त का चलन अथवा क्षोभ, ऐसा अर्थ है। 'क्रुध्' धातु का मूल अर्थ तौलनिक भाषा-शास्त्र के अनुसार क्षोभ, खलबली ही है। इसके समानार्थक 'कुप्' धातु का तो 'क्षोभ' के अर्थ में संस्कृत में प्रायः सदा ही प्रयोग होता है। काम के उत्पन्न होते ही मन की स्वस्थता डिगने लगती है। मन में अप्रसन्नता उत्पन्न होती है। काम की पूर्ति चाहे हो या न हो, उसके उत्पन्न होते ही चित्त की समता नष्ट होती है।

69. 'क्रोध' यानी क्षोभ अर्थात् चित्त की अप्रसन्नता

इसकी विपरीत परम्परा जो अन्वय-पद्धति से आगे बतायी गयी है, उससे भी यही अर्थ निकलता है। आगे यह कहा गया है कि जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है। इससे यह मालूम होता है कि यहाँ क्रोध शब्द प्रसन्नता के विपरीत अर्थ में आया है। 'काम' मन की इस छटपटाहट को कहते हैं कि मुझे फलां चीज चाहिए और यही अप्रसन्नता है। जब तक वह विषय (वस्तु) प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक मैं पूर्ण नहीं हूँ, उसके बगैर मुझमें कमी है, ऐसी हीन भावना कामना के मूल में रहती

है। इसी लिए कामना से मन मलिन होता है। उसकी निर्मलता नष्ट होती है। संस्कृत में 'प्रसन्न' शब्द निर्मल के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। स्वच्छ पानी को **'प्रसन्नं जलम्'** कहते हैं, जैसे सिंहगढ़ की देवटंकी का पानी। ऊपर से जब कंकड़ डालते हैं, तो ठेठ नीचे तह में पहुँचने तक उसकी सारी यात्रा साफ-साफ दिखायी देती है। प्रसन्नता का अर्थ है— ऐसी निर्मलता और पारदर्शकता। वाल्मीकि जिस तीर्थ में स्नान के लिए गये थे, उसके विषय में कहा है—**अकर्दमं इदं तीर्थं सज्जनानां मनो यथा।** सज्जनों का चित्त सब तरफ से खुला, निर्मल और प्रकट रहता है। जैसा कि ज्ञानदेव ने कहा है— 'कोनाकचोना वह न जाने।' वह अकर्दम होता है। 'कर्दम' मल को कहते हैं। मल पानी के बाहर की वस्तु है। उसका रंग जहाँ पानी पर चढ़ा कि वह मटमैला हुआ। पानी जब असल बे-रंग होता है, तो प्रसन्न रहता है। इसी तरह आत्मा जब अपने मूल स्वरूप में रहता है, तो प्रसन्न रहता है। उसे बाहरी वस्तु की इच्छा होना, उसका रंग उस पर चढ़ने लगना, यही उसका मैलापन है। यही अप्रसन्नता है। बाह्य कामना जहाँ आयी कि मिलावट हुई। तब कामना का महत्त्व आत्मा को मालूम होने लगता है। उसके सामने वह स्वयं गौण हो जाता है, फीका पड़ जाता है। उसका मन चलित होने लगत है; अशान्ति, व्याकुलता मालूम होने लगती है, क्षोभ होता है। इसी को यहाँ 'क्रोध' कहा है। कामना से चित्त में जो स्पंदन होता है, वही यहाँ 'क्रोध' शब्द से सूचित किया गया है। आत्मा का मूल रूप प्रशान्त और निष्पंद होता है—रात के नीरव, निरभ्र और तारकांकित आकाश की तरह। अनंत शुभ गुण ही मानो यहाँ के अनन्त तारे हैं!

70. कामना से चित्त-क्षोभ क्यों होता है?

आत्मा के परिपूर्ण और अनन्तगुणी होते हुए भी मनुष्य बाह्य वस्तु के लिए क्यों छटपटाता है? बाहर की इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहार की झंझट में वह क्यों पड़ता है? इसका कारण यह है कि मनुष्य के चित्त को आत्मा का दर्शन नहीं होता। केवल बहिर् दर्शन होता है। बाहरी सृष्टि का सौन्दर्य उसे लुभाता है। असौन्दर्य तकलीफ देता है। वस्तुतः सौन्दर्य अथवा असौन्दर्य बाह्य वस्तु में नहीं है। वहाँ तो मात्र आकार है। तद्विषयक अनुकूल-प्रतिकूल वृत्ति मुख्यतः चित्त की करनी है। चित्त इन्द्रियाधीन है। गधे की आवाज हमारे कानों को कर्कश मालूम होती है, इससे चित्त भी उसे कर्कश समझता है, परन्तु वास्तव में वह न तो मधुर है, न कर्कश। वह जैसी है, वेसी है। हमारे कानों को यद्यपि वह बुरी लगती है, तो भी

गधे के कानों को आनंददायी ही मालूम होती होगी। मुझे संगीत का शौक है, परन्तु जब मैं सोचता हूँ कि क्या किसी आवाज को मधुर और किसी को कर्कश कहना, यह वास्तव में आवाज पर आरोप करना नहीं है? मैं यह नहीं कहता कि खुद आवाज मिथ्या है, नहीं तो कोई मार्क्सवादी मेरे पीछे पड़ जायेगा और कहेगा—"क्या इस सारी सृष्टि को ही काल्पनिक कहते हो?" लेकिन यह मेरा कहना नहीं है। सृष्टि सच्ची ही है। वह मैंने अपनी कल्पना से नहीं बनायी है, इसी लिए तो मैं कहता हूँ कि वह ईश्वर की बनायी हुई है। परन्तु उसके सम्बन्ध में जो कल्पना या खयाल है, वह मेरा है, अर्थात् मेरे इन्द्रियाधीन चित्त का है। इस तरह मैं सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थों के विषय में अनुकूल या प्रतिकूल वृत्ति बनाता हूँ। वह क्षोभ का कारण होती है। जब यह बात समझ में आ जायेगी कि आत्मा परिपूर्ण है, तो मनुष्य का चित्त सन्तुष्ट और प्रसन्न होगा। उसे किसी भी प्रकार की कमी नहीं खटकेगी। वह कहेगा, "मैं बाह्य वस्तु के पीछे पड़कर, उसके लिए व्याकुल होकर, परतंत्र क्यों बनूँ? वह वस्तु क्यों नहीं मेरी अभिलाषा करती? मैं ही क्यों उसके लिए व्याकुल होकर अपने चित्त को खराब करूँ? वह अपनी ऐंठ में चूर है, तो मैं भी क्यों अपनी ऐंठ में चूर न रहूँ?" बाह्य वस्तु की अभिलाषा करते रहने से आत्मा में न्यूनता आती है और इससे चित्त क्षुब्ध होता है। चित्त की इस क्षुब्धता को ही यहाँ 'क्रोध' कहा है।

16

क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

71. क्रोध से मोह होता है, अर्थात् बुद्धि भोथरी होती है

क्रोध से मन मूढ़ हो जाता है—**क्रोधात् भवति संमोहः।** बचपन में मैं कहा करता था—"भरपेट गुस्सा होकर भी मेरी बुद्धि ज्यों-की-त्यों साबित रहती है।" क्रोध से बुद्धि की समता नष्ट होती है, इसका भी होश नहीं रहता, यही इस बात का लक्षण है कि बुद्धि साबित नहीं है। मोह का अर्थ यह नहीं है कि बुद्धि की सारी ही शक्ति नष्ट हो जाये। बुद्धि की प्रखरता का चला जाना और उसका भोथरा पड़ जाना ही मूढ़ता का अर्थ है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का कर्तव्य-निर्णय गड़बड़ा जाता है, यही संमोह है।

72. मोह से स्मृतिभ्रंश होता है, अर्थात् यह होश नहीं रहता कि हम कौन हैं

इस तरह संमोह होने पर स्मृति-भ्रंश होता है। स्मृति-भ्रंश का अर्थ मामूली विस्मृति नहीं, बल्कि इस बात का विस्मरण कि 'मैं कौन हूँ' स्मृतिभ्रंश है। बहुत-सी बातों का याद रहना 'स्मृति' नहीं है। मैं जो कुछ बोलता हूँ, उसे अक्षरशः ज्यों-का-त्यों किसी ने दुहराकर बता दिया तो उसे मैं जड़-यंत्र कहूँगा। जो भूल जाने लायक है, उसे भूलने की और जो याद रखने लायक है उसे याद रखने की विवेक-शक्ति उसके पास नहीं है। सच्ची स्मृति में यह विवेक गृहीत है। सब बातों को याद रखकर उसका बोझ वह क्यों उठाये ? विवेक का उपयोग करके कुछ रख लेना चाहिए और कुछ छोड़ देना चाहिए। उचित स्मरण और उचित विस्मरण मिलाकर सम्यक् स्मरण-शक्ति होती है। अतः यहाँ पर स्मृति का अर्थ है—मैं कौन हूँ इसका निरन्तर भान, आत्मा का निरन्तर भान।

73. 'भान मिटता है', इसका अर्थ क्या?

मनुष्य बार-बार आत्मा को भूलता रहता है। खेल के मैदान में जाकर वह कहता है, मैं खिलाड़ी हूँ। लड़ाई के मैदान में कहता है, मैं योद्धा हूँ। लड़के को देखते ही कहता है, मैं बाप हूँ। वह साफ भूल जाता है कि मैं तो खालिस रंगरहित, उपाधिवर्जित, परिशुद्ध आत्मा हूँ। जिस परिस्थिति में जाता है, उसी रंग का हो जाता है। इसे कहेंगे स्मृति-भ्रंश। यों व्यवहार में भी हम स्मृति-भ्रंश का यही लक्षण मानते हैं। जब कोई मनुष्य अपने होश-हवास भूलकर अंट-शंट बड़बड़ाने लगता है, तो हम कहते हैं, इसका दिमाग ठिकाने नहीं रहा, इसे भ्रम हो गया है। यही स्मृति-भ्रंश है। नदियां कितनी ही उमड़-उमड़कर और बढ़-चढ़कर समुद्र में जा गिरें, तो भी समुद्र शान्त ही रहता है; उनके सूख जाने पर भी वह सूखता या घटता नहीं। अपनी गम्भीरता और शांति छोड़कर वह यदि नदियों के पीछे दौड़ने लगे, तो उसे हम क्या कहेंगे? यही न कि समुद्र अपने-आपको भूल गया? यही बात हमारी है। मैं सारी सृष्टि का साक्षी हूँ। वह भले ही मेरे पीछे लगे। मैं उसके चक्कर में पड़नेवाला नहीं। मैं परिपूर्ण हूँ, मुझे किसी बात की कमी नहीं –यह भान ही स्मृति है। परिपूर्ण होते हुए भी अपूर्णता का भास होना स्मृतिभ्रंश है। स्वप्न में किसी राजा को दिखायी दिया कि वह भीख माँग रहा है, तो हम कहेंगे कि वह अपना राजापन भूल गया। वैसी ही यह दशा है।

74. स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश

इस तरह जब मनुष्य अपना भान भूल जाता है, तो उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अर्थात् वह विषयाधीन हो जाती है। बुद्धि जब विषयाधीन या विषयनिष्ठ हो जाती है, तो वह अपनी मूल स्थिति खो बैठती है। बुद्धि की मूल स्थिति का नष्ट होना ही बुद्धिनाश कहलाता है। मनुष्य जब अपने स्वरूप को भूल जाता है, तो उसकी बुद्धि अपने मूल स्थान से भ्रष्ट हो जाती है। **स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः।** बुद्धि के मानी है ज्ञानशक्ति। आत्मा को जानने का सामर्थ्य उसी में है। उस बुद्धि का उपयोग साधारण विषय-रस की विचिकित्सा में करना मानो उसका अधिकार ही छीन लेना है। माँ ने अपने बच्चे की उँगली में सोने की अँगूठी पहना दी। वह उसे दो पेड़ों के लिए हलवाई की दुकान पर बेच आया। यह वैसी ही बात है। बुद्धि एक सर्वकांतिमय, सर्वप्रभावी शक्ति है। विचार के बराबर प्रभा, विचार के समान तेज दूसरी किसी भी वस्तु में नहीं। ऐसी विचारसमर्थ बुद्धि को ऐसे विषयों में खर्च करना मानो उसका नाश ही करना है। आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेना बुद्धि की विशिष्ट सामर्थ्य है; किन्तु जब बुद्धि विषयनिष्ठ हो जाती है; तो वह उस सामर्थ्य से हाथ धो बैठती है। यह उसका नाश ही नहीं तो क्या है? जिस बुद्धि ने आत्मनिष्ठता खो दी है, वह यों चाहे कितनी ही सतेज दिखायी दे, वास्तव में यही समझना चाहिए कि उसने अपना नाश कर लिया है।

आठवाँ व्याख्यान

17

75. पिछले विवेचन का सार :

बुद्धि-नाश ही विनाश की अन्तिम सीढ़ी

इन्द्रिय-निरोध का प्रज्ञा से क्या सम्बन्ध है, यह बात 'न' कार से और 'हं' कार से, 'व्यतिरेक' से और 'अन्वय' से समझा रहे हैं। विषय-चिन्तन से लेकर बुद्धि-नाश तक की परम्परा व्यतिरेक द्वारा बतायी। बुद्धि-नाश इस परम्परा की अन्तिम सीढ़ी है। इसके विपरीत अन्वय परम्परा बताते हुए बुद्धि की स्थिरता को अंतिम सीढ़ी बतानेवाले हैं। उधर अंत में है बुद्धि की स्थिरता, इधर अंत में है बुद्धि का नाश। आगे जो **बुद्धिनाशात् प्रणश्यति** कहा गया है, वह इसलिए नहीं कि बुद्धिनाश के बाद अब और कोई सीढ़ी दिखाना बाकी रह गया है; बल्कि वह वाक्य तो बुद्धिनाश की भयंकरता दिखाने के लिए कहा गया है। बुद्धि गयी तो सब कुछ चला गया। उसे आत्म-नाश ही हुआ, ऐसा कहना होगा। अब और कुछ नष्ट होना बाकी नहीं रहा है— यह उसका अर्थ है। इसका खुलासा आगे होगा।

76. गीता को शब्दों के सूक्ष्म अर्थ ही अभिप्रेत हैं

हमने इस श्लोक के सभी पदों का सूक्ष्म अर्थ किया है। इसके बजाय यदि स्थूल अर्थ ही ले लें, तो मनुष्य का समाधान बहुत थोड़े में हो जायेगा। थोड़े में ही वह अपने को 'स्थितप्रज्ञ' हुआ समझने लगेगा। उपनिषद के एक समानार्थक वचन से भी यही जाना जा सकता है कि गीता के मन में स्थूल नहीं, बल्कि सूक्ष्म अर्थ ही समाया हुआ है। वह वचन यह है—**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलंभे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः।** (छां. 120)। इसका अर्थ है—'आहार शुद्ध होने से चित्त की शुद्धि होती है, उससे अविचल स्मृति-लाभ होता है। स्मृति-लाभ से मनुष्य के चित्त की सब गांठें खुल जाती हैं।' यहाँ 'आहार' शब्द का अर्थ केवल 'अन्न' ही नहीं, बल्कि सभी इन्द्रियों का आहार लेना चाहिए। गीता के 'निराहार' शब्द का भी हमने ऐसा ही अर्थ किया था, यह ध्यान में होगा ही। पहले हमने भक्ति-मार्ग की जो विशुद्ध प्रक्रिया देखी है, वही यह है। अशुद्ध आहार को छोड़कर सब इन्द्रियों को शुद्ध आहार कराते जायें, तो उससे चित्त की या बुद्धि की शुद्धि होती है। ऐसा होने से 'ध्रुवा स्मृति' प्राप्त

होती है। अपना भान स्थिर रहता है और फिर चित्त की सब गांठें खुल जाती हैं। हमारे मन में भिन्न-भिन्न खयालों की ग्रंथियां या गांठें होती हैं। इन्हें अंग्रेजी में 'कॉम्प्लेक्स' कहते हैं। बुद्धि शुद्ध होने का अर्थ है, इन सब गांठों का खुल जाना। इन गांठों के खुल जाने पर बुद्धि मुक्त, स्वतंत्र हो जाती है। आइने की तरह साफ हो जाती है और फिर उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब झलकने लगता है।

77. स्मृति बनाम स्मरण-शक्ति

इतना सारा कार्य यहाँ 'स्मृति-लाभ' से अपेक्षित है। अतः 'स्मृति' शब्द का अर्थ यहाँ साधारण 'स्मरण-शक्ति' नहीं कर सकते। मामूली स्मरण-शक्ति वह है, जिसे अंग्रेजी में 'मेमरी' कहते हैं और तर्कशक्ति के साथ जिसके विकास का प्रयत्न पाठशालाओं में किया जाता है। व्यवहार में मनुष्य का भुलक्कड़पन नहीं चल सकता। उसकी याददाश्त पक्की होनी चाहिए। तमोगुण में लीन मनुष्य भुलक्कड़ हो जाता है, इससे वह व्यवहार में कुशल नहीं होता। इतना तमोगुण न हो, तो वह व्यवहारोपयोगी स्मरण रख सकता है। इतना ही उस सामान्य स्मरण-शक्ति का कार्य है; परन्तु इस स्मरण-शक्ति से कोई भी हृदय-ग्रंथि खोलने की अपेक्षा नहीं रखेगा। उपनिषद और गीता ने जिस स्मृति का उल्लेख किया है वह शक्ति नहीं, बल्कि चित्त की एक अवस्था है। आत्मा का नित्य स्मरण रहना उसका स्वरूप है। जब आत्मा का नित्य स्मरण रहेगा तो फिर दूसरे संस्कार हमारे चित्त पर चाहे कितने ही जोर का हमला करें, उनकी छाप उस पर नहीं पड़ सकती। उन संस्कारों के हमलों का मुकाबला करने के लिए जिस बुद्धि के पास आत्म-स्मृतिरूपी ढाल सतत रहती है, उसे आत्म-दर्शन होना बिलकुल निश्चित है।

78. आत्म-स्मृति के अभाव में संस्कार-पराधीनता

इसके विपरीत जिसमें आत्म-विस्मृति है, उसके चित्त पर बाहरी संस्कारों के ठप्पे पड़ जाते हैं। छोटे बच्चों के मन पर कोई भी संस्कार तुरन्त जम जाता है। हम कहते हैं, छोटे बच्चे का मन स्वच्छ रहता है, सुकोमल रहता है। किसी भी संस्कार को वह तुरन्त ग्रहण कर लेता है। परन्तु इसका कारण यह भी है कि छोटे बच्चे में आत्म-विस्मृति पूर्णरूप से होती है, इससे बाहर की प्रत्येक बात उसके चित्त पर अंकित हो जाती है और हम उस चित्त को संस्कार-योग्य, संस्कार-सुलभ कहकर उसकी स्तुति करते हैं। परन्तु संस्कार यदि अच्छे होंगे तो वह अच्छा बनेगा, बुरे होंगे तो बुरा बनेगा। जैसे संस्कार होंगे, वैसे

ही उस पर अंकित होंगे। इस दृष्टि से संस्कार-सुलभता को चित्त की भयानक दशा भी कहना होगा। जब यह कहा जाता है कि ज्ञानी का मन छोटे बच्चे की तरह होता है, तब उसका अर्थ यह नहीं होता कि वह संस्कार-सुलभ है; बल्कि यह होता है कि वह बच्चे के हृदय की तरह अकृत्रिम, दंभ-रहित, खुला और सहज होता है। मन में जब आत्म-स्मृति का अखंड जाग्रत पहरा होता है, तब उसे दूसरे संस्कारों का भय नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति यदि चौराहे पर जाकर बैठ जाये, तो भी वह अपनी जगह पर स्थित रहता है। उसे कहीं भी डर नहीं रहता। वह रक्षण से परे हो गया है। आत्म-स्मृति के निरन्तर जाग्रत रहने से उसे अपने लिए बचाव की या बाड़ की जरूरत ही नहीं। नीति-शास्त्र के नियमों की बाड़ साधारण चित्त की रक्षा के लिए जरूरी होती है। वह स्थिति यहाँ नहीं है। जब आत्म-विस्मृति हो जाती है, तो फिर बुद्धि बाहर के प्रहारों की पात्र बन जाती है। इसलिए उसे बाहर से कृत्रिम संरक्षण की जरूरत लगती है। परन्तु आत्म-स्मृति के अभाव में वे सब संरक्षण निरर्थक भी सिद्ध हो सकते हैं।

79. गीता-श्रवण का फलित मोह-नाश और तज्जन्य स्मृति-लाभ

यहाँ 'स्मृति' शब्द का अर्थ आत्म-स्मृति ही उचित है। इसके लिए और भी एक प्रमाण दिया जा सकता है। यहाँ संमोह से स्मृति-भ्रंश और स्मृति-भ्रंश से बुद्धि-नाश, ऐसी परम्परा बतायी गयी है। अब यदि इसकी विपरीत परम्परा ठीक-ठीक लगायी जाये, तो वह कैसी बनेगी, इसका चित्र सामने खड़ा होने पर इन शब्दों के अर्थ पर प्रकाश पड़ेगा। इसकी उलटी परम्परा होगी—मोहनाश होने से स्मृति-लाभ और स्मृति-लाभ से बुद्धि का संदेह नष्ट होकर उसका स्थिर होना। गीता-श्रवण के अन्त में अर्जुन ने उस समय की अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए बिलकुल इन्हीं शब्दों में वह परम्परा दिखायी है। वह कहता है—**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा... स्थितोऽस्मि गतसंदेहः-** गीता-श्रवण से मेरा मोह नष्ट हुआ, स्मृति-लाभ हुआ, सब संदेह दूर हो गये। अब यह देखने से कि अर्जुन को किस प्रकार का मोह हुआ था, 'मोह' शब्द का और उसके साथ ही 'स्मृति' शब्द का अर्थ समझ में आ जायेगा।

80. 'मोह-नाश' का अर्थ है, कर्तव्य का खुलासा

ऐसा दिखायी पड़ता है कि अर्जुन को अपने कर्तव्य-अकर्तव्य के सम्बन्ध में मोह पैदा हो गया था। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'मोह' का अर्थ कर्तव्य-मोह ही करना चाहिए। यह मोह अर्जुन

को किस कारण हुआ था? इस युद्ध में मुझे सब अपने ही लोगों को मारना पड़ेगा—इस खयाल से उसका चित्त व्याकुल हो गया। उसके चित्त की व्यवस्थिति, स्वस्थता, नष्ट हो गयी। उसमें हलचल मच गयी। 'ये अपने' और 'ये पराये' इस विचार से उसका मन क्षुब्ध हो गया। जब किसी कच्चे दिल के न्यायाधीश के सामने स्वयं उसी का लड़का अपराधी के रूप में पेश किया जाता है, तो उसके मन में यह भावना पैदा होने लगती है कि मेरा बेटा बच जाये तो अच्छा। अपने कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में उसका मन शंकाशील या डांवाडोल हो जाता है। वह दोलायमान होने लगता है। वह दुविधा में पड़ जाता है। सूझता नहीं कि क्या करे? ऐसी स्थिति अर्जुन की हो गयी थी। अर्जुन ने गीता के प्रारम्भ में ऐसा ही कहा है—**पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेता:** —'मेरी बुद्धि संमोह से ग्रस्त हो गयी है। मुझे अब सूझ नहीं पड़ता कि क्या करूँ? इसलिए मैं तेरी शरण आया हूँ।' इससे यह सिद्ध होता है कि अर्जुन को अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में मोह हो गया था। यही गीता की मूल भूमिका है। अतः यह स्पष्ट है कि उसमें मोह का जो अर्थ है, वही यहाँ स्थितप्रज्ञ के प्रकरण में भी ग्रहण करना चाहिए।

81. इसी के अनुषंग में 'क्रोध' शब्द के अर्थ पर विचार

जब इस बात का विचार करते हैं कि अर्जुन को मोह कैसे पैदा हुआ, तो इसी अनुषंग में यह बात भी याद रखने लायक है कि इससे 'क्रोध' शब्द के अर्थ का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। अर्जुन को मोह तो अवश्य हुआ, पर उसे स्थूल अर्थ में 'क्रोध' नहीं आ गया था। वह गुस्सा नहीं हो गया था, संतप्त नहीं हो गया था। ये मेरे ही अपने लोग मुझसे लड़ने के लिए तैयार खड़े हैं, इससे उसे विषाद हुआ और फिर उसमें से उसका कर्तव्य-मोह उत्पन्न हुआ। परन्तु गीता कहती है कि क्रोध से मोह पैदा होता है। अर्थात् गीता की दृष्टि में 'विषाद' और 'क्रोध' पर्यायवाची ही प्रतीत होते हैं। यह 'विषाद' शब्द ध्यान देने जैसा है। प्रसन्नतासूचक तीन अक्षरों का 'प्र-सा-द' शब्द; उससे बिलकुल उलटे अर्थवाला तीन अक्षरों का 'वि-षा-द' शब्द है। क्रोध का भी स्वरूप हम ऐसा ही प्रसन्नताविरोधी देख चुके हैं। इस अर्थ में क्रोध और विषाद, दोनों शब्द क्षोभसूचक सिद्ध होते हैं।

82. 'स्थितोऽस्मि गतसंदेहः' अर्थात् मैं स्थितप्रज्ञ हो गया

इस प्रकार के क्षोभ से अर्जुन के मन में कर्तव्याकर्तव्य के विषय में मोह उत्पन्न हुआ। और अर्जुन कहता है कि ईश्वर की कृपा से गीता-श्रवण का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिससे मेरा मोह नष्ट हो गया। फिर मोह के नष्ट हो जाने से मुझे स्मृति-लाभ हुआ और मेरे सारे संदेह दूर हो गये — इस तरह ठेठ उपनिषदों की भाषा में उसने निःसंदेहता प्रकट की है। इससे 'स्मृति' शब्द के अर्थ पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। 'मेरे सब संदेह छिन्न हो गये' इसका अर्थ ऐसा ही लेना चाहिए कि बुद्धि की मेरी सब गांठें खुल गयीं, बुद्धि स्थिर हो गयी, मैं स्थितप्रज्ञ हो गया। ऐतिहासिक अर्जुन के चक्कर में पड़कर इन वचनों का गौण अर्थ कर लेना ठीक नहीं होगा। उचित यही है कि हम किसी भी व्यक्ति का विचार न करते हुए शब्दों का यथाश्रुत सूक्ष्म अर्थ ग्रहण करें। मनुष्य की बुद्धि में ऐसा सहज गुण है कि वह ठेठ मूल तक जाकर शब्द का सूक्ष्म, अंतिम और व्यक्ति-निरपेक्ष अर्थ ले सकती है और उसी में मानव का श्रेय है। अर्जुन के 'स्थितोऽस्मि' ये शब्द भी सूचक हैं। 'स्थित' शब्द से 'स्थितप्रज्ञ' की याद आ ही जानी चाहिए।

18

83. नारद के सुझाव के अनुसार शब्दों के स्थूल अर्थ भी अपनी भूमिका के अनुसार लिये जा सकते हैं

परन्तु यदि हम शब्दों के ऐसे सूक्ष्म ही अर्थ करेंगे, तो जन-साधारण के लिए ये श्लोक उतने उपयोगी नहीं हो सकेंगे। अच्छा, यदि हम अपनी पहुँच का ही मर्यादित अर्थ करें, तो पहले बताये अनुसार थोड़े में संतोष पाने लगेंगे, जिससे आगे की प्रगति ही रुक जायेगी। अतः आवश्यकता के अनुसार दोनों तरह के अर्थ ग्रहण करने चाहिए। नारद ने भक्तिसूत्रों में इन शब्दों के स्थूल अर्थ किये हैं। उनके सूत्र हैं—

दुसंगः सर्वथैव त्याज्यः (43)। काम-क्रोध-मोह-स्मृतिभ्रंश-बुद्धिनाश-सर्वनाश-कारणत्वात् (44)। तरंगायिता अपीमे संगात् समुद्रायन्ति (44)। इसका अर्थ है—"कुसंगति को सब तरह से छोड़ना चाहिए; क्योंकि उससे काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, इस परम्परा से बुद्धिनाश और सर्वनाश हो जाता है। मनुष्य के मन में ये विकार असल में तरंग की तरह अल्प हों, तब भी वे कुसंग से समुद्र की

तरह विशाल हो उठते हैं।" नारद के इन सूत्रों के अनुसार इन श्लोकों का, प्रत्येक को, अपनी-अपनी भूमिका देखकर, लेकिन प्रगतिशील अर्थ यथासम्भव कर लेना चाहिए।

84. बुद्धिनाश-परम्परा के विभाजन का रहस्य: पहले मन पर, फिर बुद्धि पर आक्रमण

इन दो श्लोकों का थोड़ा और पृथक्करण कर लेना ठीक होगा। पहले श्लोक में **ध्यायतो विषयान् पुंसः** से प्रारम्भ करके **कामात् क्रोधोऽभिजायते,** यहाँ समाप्त किया है। अगले श्लोक में **क्रोधात् भवति संमोहः** से लेकर बुद्धिनाश तक का भाग बताया है। यह ऐसा विभाजन क्यों किया गया? इसमें कोई योजना तो नहीं है? मनुष्य के चित्त के दो भाग हैं — मन और बुद्धि। पहले शलोक में य यह बताया गया कि विषय-चिन्तन के फलस्वरूप मन पर उसका कैसा आक्रमण होता है। दूसरे श्लोक में इस बात का निरूपण किया गया है कि बुद्धि पर उसका प्रहार किस रूप में होता है। पहले-पहल विषयों का प्रहार मन पर होता है, सीधा बुद्धि पर नहीं। इससे मन के विकारयुक्त हो जाने पर भी बुद्धि सही-सलामत रहती है, ऐसा भास हो सकता है; परन्तु वह अधिक समय तक नहीं टिक सकेगा। अतः समय रहते ही सावधान होकर मन पर हमला होते ही उसे खदेड़ देना चाहिए। यों देखा जाये तो पहला धावा इन्द्रियों पर ही होता है। वह विषयों का पहला किला है। वहीं से उनका हमला लौटा देना चाहिए। आगे चलकर तीसरे अध्याय में इसका अधिक विवेचन किया है—**इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः अस्याधिष्ठानमुच्यते।** इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, ये कामना के आश्रयरूप तीन किले हैं। इन्द्रियाँ सबसे बाहरी किला है। इसलिए लड़ाई का आरम्भ इन्द्रियों से ही करना पड़ता है। यह हम पहले ही देख चुके हैं।

नौवाँ व्याख्यान

19

85. स्थिर बुद्धि की परम्परा का आरम्भ : राग-द्वेष छोड़कर इन्द्रियों का उपयोग करनेवाला प्रसाद पाता है

विषय-चिन्तन से प्रारम्भ होनेवाली बुद्धि-नाश की परम्परा का वर्णन किया जा चुका। अब अगले दो श्लोकों में उलटी परम्परा बतानी है। बुद्धि-नाश की इस परम्परा से हमें यह शिक्षा मिली कि इन्द्रिय-जय का अर्थ स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों में ग्रहण करना चाहिए। तभी बुद्धि की रक्षा होगी। तो यहाँ यह प्रश्न खड़ा होगा कि फिर क्या आत्मज्ञानी पुरुष अपनी इन्द्रियों के समस्त व्यापार ही बंद कर दे? इस प्रश्न का उत्तर आगे दिया जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयान् इन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसादं अधिगच्छति॥

अर्थात्—"विषयों के प्रति वैराग्य स्थिर हो जाने पर इन्द्रियाँ स्वाधीन हो जाती हैं। इन स्वाधीन इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करनेवाला पुरुष प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता पाता है।" इसका आशय यह है कि ज्ञानी मनुष्य ही निर्भयतापूर्वक इन्द्रिय-व्यवहार कर सकता है। जिनकी सत्ता इन्द्रियों पर नहीं चलती, उनको भय है। जिनको भय है, उन्हें निर्भय की तरह हर्गिज नहीं विचरना चाहिए। इन्द्रियों के व्यवहार में राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। यह खतरा जिसने हटा दिया, वह व्यक्ति इन्द्रियों के सभी उचित व्यापार करेगा; बल्कि उसकी दृष्टि में तो सभी व्यवहार आध्यात्मिक ही हो जायेंगे। इतना ध्यान रखना पर्याप्त है कि इन्द्रियों को अपनी खुराक देते हुए राग-द्वेष उत्पन्न न हों। प्रसन्नता-प्राप्ति के लिए इन्द्रिय-जय आवश्यक है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम इन्द्रियों से कुछ काम ही न लें। इन्द्रियों से यदि कोई काम ही न लेना हो, तो फिर इन्द्रिय-जय की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। मुख्य बात यह है कि हम इन्द्रियों के अधीन न हों। चाकू का उपयोग करना और चाकू के अधीन होना, दोनों में अंतर है। चाकू से पेन्सिल छीलना चाकू का उपयोग है। उँगली पर चलाकर हाथ ही छील लेना चाकू के अधीन हो जाना

है। इन्द्रियों का उपयोग भगवान् की सेवा में करना चाकू से पेन्सिल छीलने-जैसा है; परन्तु इन्द्रियों के वश होकर बुद्धि-नाश कर लेना चाकू से उँगली काट लेने-जैसा है।

86. दोनों परम्पराओं की मुख्य सीढ़ियां: बीज, शक्ति और फलित

बुद्धि-नाश की परम्परा जैसी ब्यौरेवार बतायी है, वैसी विपरीत परम्परा सविस्तर नहीं बतायी है। एक परम्परा यदि व्यवस्थित रूप से बता दी गयी है, तो उसमें दूसरी अपने-आप आ जाती है। फिर परम्परा की सारी सीढ़ियां एक-सा महत्त्व नहीं रखतीं और आदि, मध्य, अंत अथवा शास्त्रीय भाषा में कहें तो बीज, शक्ति और फलित—इन तीन सीढ़ियों को याद रखें तो पर्याप्त है। विषय-चिन्तन बीज है। उससे अप्रसन्नता या चित्त-चलन (मैं 'क्रोध' शब्द को छोड़ ही देता हूँ) यह शक्ति हुई और बुद्धि-नाश हुआ फलित। इसके विपरीत क्रम में, विषयों से राग-द्वेष उत्पन्न न होने देना बीज, प्रसन्नता शक्ति और बुद्धि की स्थिरता, यह फलित हुआ। तीन मुख्य सीढ़ियां बता दी गयी हैं। उनके आधार पर परिपूर्ण परम्परा बैठायी जा सकती है।

87. 'प्रसाद' शब्द के अर्थ के बारे में भ्रम

'प्रसाद' शब्द के अर्थ पर बहुत-कुछ विचार किया, फिर भी वह कुल मिलाकर भ्रम फैलानेवाला हो गया है। उसका अर्थ 'प्रसन्नता' करने से भी भ्रम दूर नहीं होता। प्रसन्नता का अर्थ आजकल उल्लास, आनन्द किया जाता है; परन्तु वस्तुतः प्रसाद अथवा पसन्नता का अर्थ उल्लसित वृत्ति या हर्ष नहीं है। प्रसाद का अर्थ है न विषाद, न हर्ष। परन्तु लोग उसका अर्थ प्रायः हर्ष ही करते हैं। तुलसीदासजी ने श्रीरामचन्द्रजी की मुख-श्री का वर्णन करते हुए कहा है—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतः तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखांबुजश्री रघुनंदनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा॥

"राज्याभिषेक की बात सुनकर जिस पर प्रसन्नता नहीं उमड़ी और वनवास का कष्ट सामने खड़ा होते हुए भी जिस पर विषाद की छाया नहीं पड़ी, वह राम की मुख-कांति हमारा नित्य मंगल करे।" यह स्पष्ट है कि यहाँ तुलसीदासजी ने 'प्रसन्नता' शब्द का अर्थ, जैसा कि लोगों में रूढ़ था, वैसा ही किया है; परन्तु भाषा की शास्त्रीयता के लिए मैं तुलसीदासजी से सिफारिश करूँगा कि वे 'प्रसन्नतां या न गता'

की जगह 'प्रहृष्टतां या न गता' का प्रयोग करें। श्रीराम की मुख-मुद्रा हर्ष-विषादरहित थी, यही वे कहना चाहते हैं। इसी का नाम है—प्रसन्नता।

88. वस्तुतः 'प्रसाद' का अर्थ है प्रसन्नता अर्थात् स्वास्थ्य

'प्रसन्नता' का अर्थ है निर्विकारता, शांति, गांभीर्य। 'गांभीर्य' शब्द से डर लगता हो, तो उसे छोड़ दीजिए। 'प्रसन्नता' शब्द से तो भय नहीं होना चाहिए। प्रसन्नता का मतलब है—राग-द्वेषरहितता, स्वच्छता, निर्मलता। उसका लक्षण ऐसा भी किया जा सकता है—'जिसके दर्शनमात्र से दुःख-शमन होता है, वह है प्रसन्नता।' किसी का लड़का मर गया। इससे उसका चित्त खिन्न हो गया। कहीं भी मन नहीं लगता था। वह एक झरने के किनारे जाकर बैठ गया। मन शान्त हुआ। वह गुण उस झरने की निर्मलता का है। निर्मलता स्वयं-प्रचारक है। उसका प्रभाव सहज ही पड़ता है। उसका दर्शन होने से वह अवश्य आनन्द उपजाती है। 'प्रसन्नता' का अर्थ व्यक्त करने के लिए भाष्यकार ने 'स्वास्थ्य' शब्द का प्रयोग किया है, वह ठीक ही है। 'स्वास्थ्य' शब्द में शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार के आरोग्य का समावेश हो जाता है। वैद्यक-शास्त्र के अनुसार शारीरिक स्वास्थ्य का अर्थ है, शरीर में धातुसाम्य रहना और मानसिक आरोग्य का अर्थ है, चित्त की समता और मानसिक शान्ति। इस तरह दोनों अर्थों का संग्राहक यह 'स्वास्थ्य' शब्द 'प्रसन्नता' का समुचित पर्याय माना जा सकता है।

89. प्रसन्नता से सब दुःख सदा के लिए मिट जाते हैं, क्योंकि दुःखमात्र मनोमल का परिणाम है

प्रसादे सर्वदुःखामां हानिरस्योपजायते।

इन्द्रिय-जय द्वारा प्राप्त प्रसन्नता से सब दुःख तत्काल नष्ट हो जाते हैं। गीता ने प्रसन्नता की ऐसी विशेषता बतायी है। दूसरे सुख-साधनों से तो कुछ ही दुःख दूर होते हैं और सो भी थोड़े समय के लिए। भोजन से भूख मिटती है, थोड़ी देर के बाद फिर लगती है। नींद से थकान मिट जाती है, फिर नींद की भी थकान आती है। इस तरह भिन्न-भिन्न दुःखों को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न सुख-साधनों का सतत प्रयोग करते रहना पड़ता है; परन्तु प्रसन्नता से सभी दुःख झड़ जाते हैं, क्योंकि जहाँ से दुःख पैदा होता है, वहीं प्रसन्नता अपना डेरा डाले रहती है। विज्ञान द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो चुका है कि यदि दुःख की संवेदना मस्तिष्क तक न पहुँचे, तो दुःख का अनुभव नहीं होता। इसी तरह जिसके चित्त में

प्रसन्नता का झरना बहता है, दुःख उसके मन को डिगा नहीं सकता। अंधेरी गुफा में दीया ले जाने से अंधेरा मिट जाता है, ऐसा कहने की अपेक्षा यह कहना ज्यादा उचित होगा कि अंधकार को ही प्रकाश का रूप प्राप्त हो जाता है। इसी तरह जहाँ अंतःकरण निर्मल अर्थात् प्रसन्न है, वहाँ दुःख ही सुखरूप हो जाता है, क्योंकि सारे दुःख मनुष्य के मनोमल के परिणाम हैं। फिर ये दुःख चाहे शारीरिक हों या मानसिक।

20

90. प्रसन्नता से स्थिर बुद्धि सहज साध्य

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।

चित्त जब प्रसादयुक्त अथवा प्रसन्न हो जाता है, तो फिर बुद्धि देखते-देखते स्थिर हो जाती है। प्रसन्नता आयी कि फिर स्थितप्रज्ञता आने में देर नहीं लगती। निर्विकारता अथवा प्रसन्नता चित्त की स्थिरता का प्रत्यक्ष साधन है। चित्त की स्थिरता के जो दूसरे साधन माने जाते हैं, उनसे चित्त बस थोड़ी देर के लिए एकाग्र होता है। ये साधन कृत्रिम और क्षणस्थायी ही होते हैं, परन्तु चित्त का मल निकाल डालने से स्थिरता अपने-आप और सदा के लिए आ जाती है। और जब स्थिरता ही चित्त की सहज अवस्था हो जाती है, तो व्यग्रता ही कठिन हो जाती है।

91. शिशु का दृष्टान्त

छोटे बालक के चित्त में जो एकाग्रता रहती है, उसका कारण भी यही है। छोटे शिशु की आँखों की तरफ टकटकी लगाकर देखिए। वह अपलक एकटक देखता ही रहता है। उतने ही समय में हम दस-पाँच बार पलक खोलते और मूंदते हैं। उसकी आँखों के सामने योगियों की मुद्रा भी हार जायेगी। इसका कारण है उसके चित्त की निर्मलता। हाँ, उसमें निर्भयता उतनी नहीं रहती। इससे भय मालूम होते ही उसकी आँखें मुंद जाती हैं। शिक्षा-शास्त्र में छोटे बच्चे का चित्त व्यर्थ ही विवाद का विषय बन बैठा है। कुछ शिक्षा-शास्त्री कहते हैं कि छोटे बच्चे का चित्त बहुत चंचल रहता है। पर वस्तुतः उसका चित्त चंचल नहीं रहता, इनका रहता है; परन्तु आरोप उस पर किया जाता है। 'उलटा चोर कोतवाल को डांटे' इसी को कहते हैं। छोटे बच्चे के लिए एकाग्रता बिलकुल मुश्किल नहीं। हमारे यहाँ चरखा चलाते हुए छोटे बच्चों का ऐसा ध्यान लग जाता है कि उसे देखकर बड़े-बड़े लोगों को भी आश्चर्य होता है। लेकिन इसमें

आश्चर्य की कोई बात नहीं। सतत बहनेवाली धार एकाग्रता में सहायक होती है। इसी लिए महादेव की पिंडी पर अभिषेक की धार छोड़कर एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है। किसी अखंड बहनेवाले झरने के किनारे बैठने पर चित्त एकाग्र हो जाता है। इसी तरह सूत का धागा सतत निकलते देखकर छोटे बच्चे का निर्मल मन सहज ध्यानस्थ हो जाता है। हाँ, बच्चों का दिमाग कमजोर होने से उनका ध्यान अधिक समय तक नहीं टिकता, यह बात दूसरी है; परन्तु एकाग्रता उनके लिए बहुत सहज है। सहज भी कितनी? मुँह में जरा-सी मिश्री पहुँची नहीं कि बच्चा सारी दुनिया भूलकर उसकी मिठास में लवलीन हो जाता है। एकदम रोना बन्द कर देता है। बच्चा जब रोने लगता है तो माँ कहती है—'वह देख, कया फुदकता है?' बच्चा अपनी सारी वृत्तियों को समेटकर कौए की तरफ देखने लगता है। फौरन तन्मयता हो जाती है। इस सहज एकाग्रता की बदौलत ही वह शिक्षा तेजी से और तुरन्त ग्रहण करता है। इस सहज एकाग्रता का कारण है, चित्त में मल का न होना। चित्त-शुद्धि ही स्थायी एकाग्रता का मुख्य और प्रत्यक्ष साधन है, शेष सब कोरे बाह्य उपचार हैं।

92. 'समाधि' यानी मूल स्थिति, उसे बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं

जब चित्त में वासनाएं भरी हुई हैं, तब केवल बाह्य साधनों से एकाग्रता कैसे होगी? सुबह का समय हो, नींद पूरी हो चुकी हो, शौच-स्नान से निवृत्त हो चुके हों, जिससे चित्त तरोताजा हो गया हो, आसन पर तनकर बैठे हों, दृष्टि अर्द्धोन्मीलित हो, ध्यान के लिए कोई श्लोक या नाम गुनगुना रहे हों, कोई मूर्ति, चित्र, ज्योति या जल-धारा आँखों के सामने हो, कहीं से शांत संगीत की सुमधुर तान सुनायी दे रही हो—तब जाकर इतनी सारी अनुकूलताओं के बाद कहीं दस-पाँच मिनट एकाग्रता सधती है! वह बाह्य साधनों से ही आयी होती है, अतएव कायम कैसे रहेगी? समाधि यदि आत्मा की मूल अवस्था है, तो वह सहज होनी चाहिए। उसके लिए बाह्य प्रयत्नों की आवश्यकता ही नहीं रहनी चाहिए। वह कुछ भी न करते हुए ही लगनी चाहिए, बल्कि रहनी चाहिए। खाना-पीना, देखना-सुनना, चलना-फिरना इत्यादि क्रियाएं हैं, अतः इनके लिए परिश्रम, प्रयत्न चाहिए, यह ठीक ही है। परन्तु समाधि तो मूल स्थिति है। उसके लिए बाह्य प्रयत्न, परिश्रम की क्या जरूरत है?

93. चित्त-शुद्धि हुई कि समाधि लगी

महाभारत में एक वचन है—"चित्त की शुद्धि होने पर छह महीने में समाधि लग जाती है।" इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि व्यासदेव को उनके खयाल के अनुसार चित्त-शुद्धि होने के छह महीने के बाद समाधि-लाभ हुआ। नहीं तो चित्त-शुद्धि होने पर फिर यह छह महीने की झंझट क्यों? और छह महीने यानी 180 दिन ही क्यों? 179 दिन से काम नहीं चलेगा? इसका अर्थ ही यह है कि अभी चित्त-शुद्धि पूरी नहीं हुई। व्यासदेव से यदि कुरेदकर ही पूछेंगे तो वे कहेंगे—मेरी गीतावाली भाषा ही ठीक है। गीता कहती है—"जिस क्षण चित्त-शुद्धि होती है, उसी क्षण एकाग्रता सध जाती है।" अब सब प्रकार से प्रयत्न छोड़ना ही जिस अवस्था का स्वरूप है, वह सहज ही सधनी चाहिए, यह कहने की जरूरत नहीं है। बालकोबा[1] कहता है—"मैं कोशिश करता हूँ, पर नींद नहीं आती।" मैं उससे कहता हूँ—"तुम कोशिश करते हो, इसी से नहीं आती। कोशिश ही नींद के विरुद्ध है।" कोशिश छोड़ देने से नींद अपने-आप आ जाती है। यही बात एकाग्रता की है। सारे प्रयत्न छोड़ देने के बाद ही सच्ची एकाग्रता, सहज एकाग्रता, सधती है। एकाग्रता के साधन ही चित्त पर उलटे पड़ते हैं और क्षणिक एकाग्रता के बाद फिर व्यग्रता आ जाती है।

94. फिर भी तात्कालिक उपाय के रूप में बाह्य साधन भी उपेक्षा-योग्य नहीं।

परन्तु इसका यह अर्थ हर्गिज नहीं है कि जब तक सहज एकाग्रता न सध जाये, तब तक बाह्य साधनों से एकाग्रता का अभ्यास न किया जाये। साधक को साधना में बाह्य साधनों से भी सहायता मिल सकती है। अतः उनका उपयोग कर लेना उचित ही है। और इसलिए गीता के छठे अध्याय में साधकों के उपयोग के लिए उनको थोड़े में बताया भी है। साधना के लिए सबसे अनुकूल समय प्रातःकाल है। वह अनुपम है, मानो वह सत्त्वगुण का ही प्रतीक है। अंधकार चला गया है, प्रकाश अभी आया नहीं है। दिन रजोगुण का प्रतिनिधि है और रात तमोगुण की। और संधि-काल सत्त्वगुण का, आत्मा के समत्व का, प्रशांतता का प्रतिनिधि है। इसी लिए संधि-काल में उपासना का विधान किया गया है। उस समय का दृश्य बड़ा रमणीय, पवित्र और उद्बोधक होता है। वह समय एकाग्रता के प्रयोग के लिए बहुत उपयुक्त है। सुबह का समय खो दिया, तो मानो सारा दिन ही व्यर्थ गया। अतः उस समय का उपयोग ध्यान के लिए करना निःसंशय श्रेयस्कर है। परन्तु चित्त को बाहर से टेका, सहारा देकर खड़ा करना एक बात है

और दीवार की तरह उसका अपने से सीधा तनकर खड़ा रहना दूसरी बात है। इसलिए अंततः गीता का संकेत ही उचित है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, निर्विकार हो जाता है, तो वह खुद अपने बल पर स्वाभाविक सीधा खड़ा रहेगा। और यही संकेत पतंजलि ने भी कर रखा है। उनकी भाषा में ध्यानयोग के लिए यम-नियमों का आधार आवश्यक है। यम-नियम चित्त-शुद्धि की साधना ही है। जब चित्त-शुद्धि हो जाती है, प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है, तो फिर बुद्धि के स्थिर होने की या एकाग्रता की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। **प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।**

---

1. विनोबाजी के छोटे भाई।

४. पंचरत्न्यधिकरणम्

दसवाँ व्याख्यान

21

95. बुद्धि-नाश की अनर्थकारिता बताने के निमित्त जीवन के पाँच मूल्यों का अवतरण

अब तक अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यह बताया गया कि संयम से प्रसन्नता प्राप्त होती है और उससे बुद्धि स्थिर होती है और असंयम से चित्त-क्षोभ होता है और उससे बुद्धि-नाश होता है, बुद्धि की स्थिरता नष्ट होती है। इससे संयम का महत्त्व अपने-आप सिद्ध हो जाता है। और यदि कोई ऐसी दीर्घ शंका ही करे कि बुद्धि की स्थिरता चली गयी तो क्या नुकसान होगा, तो उसका भी उत्तर **बुद्धि-नाशात् प्रणश्यति** इस वाक्य द्वारा दे दिया है। वस्तुतः ऐसी शंका किसी को करनी नहीं चाहिए, और करे तो भी उसका उत्तर किसी को देना नहीं चाहिए। परन्तु गीता ने केवल उत्तर ही नहीं दिया है, बल्कि उसे सविस्तार समझाने के लिए एक और श्लोक खर्च किया है। 'बुद्धि-नाशात् प्रणश्यति' यह तो एक बच्चा भी समझ लेता है—फिर उसे इतना विस्तार से समझाने की क्या जरूरत? परन्तु यह तो एक निमित्तमात्र है। इसके निमित्त से जीवन-मूल्यों का निरूपण करना है। यह मन में दृढ़ करना है कि वे सभी स्थिर-बुद्धि पर, और इसी लिए संयम पर अवलंबित हैं। सद्भावना, चित्त की शान्ति और आत्मसुख, ये तीन जीवन के अतुलनीय मूल्य हैं और तीनों स्थिरबुद्धि के अभाव में खतरे में जा पड़ते हैं। अतः स्थिरबुद्धि और तत्साधक संयम, ये भी उतने ही महत्त्व के मूल्य हैं; बल्कि ये अंतिम दो तो स्वतंत्र भी मूल्य हैं। साधक के व्यक्ति-विकास के ही लिए नहीं, बल्कि कुल मिलाकर सारे समाज के त्रैकालिक स्वास्थ्य के लिए भी, इससे अधिक उपयोगी अथवा भिन्न मूल्य विचारक लोग नहीं दिखा सके हैं। ये सभी एक छोटे-से सूत्र-वाक्य में गूंथ दिये गये हैं, अतः मैं इसे पंचरत्नी कहता हूँ।

96. सर्वाधार संयम : संयम के बिना बुद्धि नहीं

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिर् अशांतस्य कुतः सुखम्॥

यह है वह सूत्र-वाक्य। इसका अक्षरशः अर्थ यह होगा—'अयुक्त को बुद्धि नहीं, अयुक्त को भावना नहीं। भावना के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं।' यह सूत्र ही है, इसलिए इस पर भाष्य करने की आवश्यकता है। 'अयुक्त को बुद्धि नहीं'—यह तो अब तक जो मीमांसा की गयी, उसका फलित बताया है। अयुक्त अर्थात् असंयमी पुरुष को। संयम से बुद्धि और उसके अभाव में बुद्धि-नाश, इन दो अन्वय-व्यतिरेकी न्यायों की वह निष्पत्ति है। अर्थात् यह केवल पूर्वानुवाद है। **अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते**—अयुक्त पुरुष स्वैर-वृत्ति के कारण फलाशा में फँसकर बांधा जाता है, ऐसा पाँचवें अध्याय का वचन है। इससे 'अयुक्त' शब्द के अर्थ पर प्रकाश पड़ता है। अयुक्त का अर्थ है आसक्त, कामना-ग्रस्त, अक्षरार्थ से 'युक्तिरहित'। युक्ति का अर्थ है संयम की युक्ति, यह हम पहले ही देख चुके हैं। इसे जीवन की कुंजी ही समझिए। जब यह मालूम हो जाता है कि व्यक्ति और समाज का रुख संयम की ओर है या स्वच्छंदता की ओर, तो उनके जीवन का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अतः इसे जीवन का पहला मूल्य कह सकते हैं। दूसरा मूल्य है, इसी से निर्माण होनेवाली स्थिर-बुद्धि।

97. आगे का अध्याहार : बुद्धि के बिना भावना नहीं

यहाँ तक इस सूत्र में कहीं भी बाधा नहीं है। परन्तु इसके आगे सूत्र खंडित-सा लगता है। 'अयुक्त को बुद्धि नहीं और अयुक्त को भावना नहीं' ऐसी भाषा आगे आयी है, वह त्रुटित है। गीता कहना चाहती है कि भावना जीवन का तीसरा मूल्य है। उससे शान्ति और शान्ति से सुख इस प्रकार आगे के मूल्य बताये हैं। भावना के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं, ऐसा कहने से भावना की आवश्यकता समझ में आ गयी। संयम से लेकर सुख तक की श्रृंखला संयम, भावना, शान्ति, सुख इस तरह जुड़ गयी, परन्तु बीच में ही यह बुद्धि क्यों ले आये? बुद्धि और भावना का कुछ भी सम्बन्ध नहीं बताया गया, इससे बुद्धि अधर में ही रह गयी। यदि बुद्धि को एक तरफ रखकर भी संयम की आवश्यकता सिद्ध करनी हो, तो वह इस सूत्र से हो सकती है। परन्तु ऐसा अपेक्षित नहीं है। संयम की आवश्यकता तो है, पर वह बुद्धि द्वारा दिखानी चाहिए। किसी भी तरह से देखें, यह वाक्य अधूरा ही लगता है। इसलिए **नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चाबुद्धस्य भावना**—संयम के बिना बुद्धि नहीं और बुद्धि के बिना भावना नहीं, ऐसा वाक्य यहाँ होना चाहिए था। परन्तु वर्तमान वाक्य को ही गृहीत मानकर **स्थितस्य गतिश् चिंतनीया**—इस न्याय के अनुसार उसमें यह सुसंगत अर्थ बैठाना चाहिए। इसलिए **नास्तिबुद्धिर्**

अयुक्तस्य, अतएव न च अयुक्तस्य भावना ऐसा, 'अतएव' शब्द का अध्याहार मानकर काम चलाना होगा। कुल मिलाकर ऐसा अर्थ निष्पन्न हुआ—'संयम के बिना बुद्धि नहीं, बुद्धि के बिना भावना नहीं, भावना के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं।'

22

98. अध्याहार की खूबी: बुद्धि से भावना अलग नहीं; परिनिष्ठित बुद्धि ही भावना है

संयम से लेकर सुख तक अखंड श्रृंखला बताते हुए बीच की एक कड़ी जोड़ना कैसे छूट गया होगा, ऐसी शंका यहाँ आ सकती है। इसका उत्तर यह है कि भगवान् ने यहाँ बुद्धि और भावना का अद्वैत ही मान लिया जान पड़ता है। इस कल्पना में एक विशेष दर्शन है। भावना से भगवान् का अभिप्राय है **'परिनिष्ठित बुद्धि'**, बुद्धि की परिपक्वता। बुद्धि जब इतनी परिनिष्ठित हो जाती है कि उसे अब विचार करने की आवश्यकता नहीं रही, तो उसे 'भावना' कहते हैं।

99. परिनिष्ठित बुद्धिरूप भावना के उदाहरण

कुछ-कुछ बातों में बुद्धि इतनी दृढ़ हुई होती है कि फिर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यह सुनते ही कि खून हो गया, बिना विचारे मुँह से निकल पड़ता है—'बड़ा बुरा हुआ'। इसे 'भावना' कहते हैं। ऐसी कुछ भावनाएं समाज के हृदय में घुली हुई रहती हैं। उन पर पुनर्विचार करने की जरूरत नहीं रहती। मनुष्य-समाज द्वारा उन विषयों पर लाखों बार विचार करके निर्णय लिया होता है। जैसे, आप भारतीय समाज के किसी मनुष्य से पूछेंगे कि—'क्या शराब से कुछ भी फायदा नहीं है? शराब प्रमाण से पिया करें तो क्या हर्ज है?' तो वह कहेगा, 'भाई, मैं यह कुछ नहीं जानता। तुम्हारी बातें मेरे गले नहीं उतरतीं।' हमारे पूर्वजों ने हजारों प्रयोग किये हैं और यह निर्णय कर रखा है। कुरान में कहा है—'शराब से फायदा कम है, नुकसान ज्यादा।' यह तो मूल शास्त्रकारों का तर्कशास्त्र हुआ। पर जब एक बार बुद्धि पक्की होकर भावना में परिणत हो गयी, तो फिर तर्क आवश्यक नहीं रहता। तब वह स्वयं-सत्य हो जाता है।

100. प्रगत समाज में अनेक भावनाएं घुली हुई रहती हैं; उन्हीं से समाज में शान्ति रहती है

बुद्धिपूर्वक किये गये प्रयोगों के परिणामस्वरूप जो भावनाएं समाज में प्रतिष्ठित हो चुकी हैं, वे सामाजिक प्रगति की द्योतक होती हैं। युद्धों में इतने आदमी मारे जाते हैं, तो यह सवाल पूछने को मन होता है कि जब ये मारे ही जाते हैं तो फिर इन्हें खा क्यों नहीं डालते? होते तो हैं ये बड़े हट्टे-कट्टे लोग। अब यदि शास्त्र-दृष्टि से सिद्ध हो जाये कि इनका मांस ठीक नहीं है, तो बात दूसरी है, परन्तु बहुत करके यही फैसला होगा कि मनुष्य का मांस मनुष्य को जल्दी आत्मसात् हो जायेगा। अतः यदि और प्राणियों की तरह मनुष्य को भी हम खाने लगें, तो अनाज की उतनी कमी नहीं रहेगी। और यदि यह मालूम हो जाये कि मारे गये लोग खाने के काम में आते हैं, तो संभव है कि सैनिकों को उन्हें मारने में अधिक उत्साह आयेगा। परन्तु बावजूद इसके यह निश्चित हो चुका है कि मनुष्यों को खाना नहीं चाहिए। इसका कारण यह है कि हमारी भावना ही ऐसी बन चुकी है। उसके मूल में अनुभव-सिद्ध बुद्धि है। मनुष्य मनुष्य को मारना बुरा ही है; पर यदि यह रास्ता खोल दिया जाये कि मनुष्य मनुष्य को खा सकता है, तो और भी अनर्थ होगा। फिर तो समाज के पतन की कोई सीमा ही नहीं रहेगी। यह बात मनुष्य के मन में इतनी गहरी बैठ चुकी है कि अब इसके लिए तर्क करने की गुंजाइश ही नहीं रही है। यह सद्भावना का बढ़िया उदाहरण है। ऐसी अनेकविध उन्नत भावनाएं जिस समाज में स्थिर हो चुकी हों, वह समाज शान्तिमय रहता है। इसके विपरीत जिस समाज के विचार कभी खतम ही नहीं होते, हमेशा हर बात में संदेह और अनिर्णय रहता है, बुद्धि परिनिष्ठित होती नहीं, उस समाज में सदा अशान्ति ही रहेगी।

101. परन्तु समाज में पगी हुई भावना सर्वथा बुद्धियुक्त ही होती हो, सो बात नहीं। अतः भावना के कुशल संशोधन की आवश्यकता

इतिहास के अनुभव से कुछ भावनाएं समाज में स्थिर हो जाती हैं। उन्हीं से सामाजिक जीवन सुव्यवस्थित रहता है। समाज में संतुलन रहता है। परन्तु सभी भावनाएं बुद्धि-युक्त होती हों, सो बात नहीं। अतः उन पर बुद्धि का प्रकाश डालकर उन्हें जाँच लेना चाहिए। भावना के जितने अंश के मूल में बुद्धियुक्तता पायी जाये, उसे कायम रखना चाहिये। जितना अंश अबुद्धियुक्त हो, उसे निकाल डालना चाहिए। लेकिन भावना का समूल उच्छेद नहीं करना चाहिए। उसकी शुद्धि और विकास करना चाहिए। नहीं तो समाज में फिर कोई भी स्थिर मूल्य नहीं रहेगा। उसका संतुलन नहीं संभाला जा सकेगा। अशान्ति

और अव्यवस्था का बोलबाला हो जायेगा। सामाजिक सद्भावनाओं के कुछ उदाहरण तो हमने देख लिये। अब और कुछ उदाहरण हम देख लें, जिससे यह मुद्दा ज्यादा स्पष्ट हो जायेगा।

102. संशोध्य भावना का एक उदाहरण: मांसाहारनिवृत्ति

हमारा समाज भावना से मांसाहार को गौण समझता है। उसके फलस्वरूप कुछ सारी-की-सारी जमातों ने मांस छोड़ दिया है। परन्तु बाद में ये जातियां अपने को उच्च समझने लगीं। इतना ही नहीं, कुछ जातियों को अछूत मानने तक की नौबत आ गयी। इस ऊँच-नीच भेद में और भी कुछ बातें मिली हुई हों, फिर भी कुछ जातियों की मांस-विषयक वर्ज्य-भावना का अंश उसमें है ही। यह भावना तो उचित है, परन्तु उसके अनुषंग में आये ऊँच-नीच भेद को छोड़कर ही उसको अपनाना और पुष्ट करना होगा।

103. दूसरा उदाहरण : अन्नदान-सम्बन्धी श्रद्धा

हमारे समाज में ऐसी ही एक और भावना है और वह है अन्नदान का महत्त्व। सब दानों में अन्न-दान श्रेष्ठ और निर्दोष माना गया है। परन्तु समाज में उस भावना का विनियोग करते हुए आज उसे विकृत और अनिष्ट रूप प्राप्त हो गया है। परन्तु इस कारण उसके मूल में निहित संदेश को भुला देना इष्ट नहीं होगा। उसे सुधारकर परिपुष्ट करना चाहिए। अन्नदान को श्रेष्ठ मानने में यह कल्पना गृहीत है कि प्रत्येक भूखे मनुष्य को भोजन का अधिकार है । उसे भोजन देना समाज का कर्तव्य है। अन्नदान मनुष्य को सीधे ही पहुँच जाता है। दूसरी तरह से सहायता पहुँचाने में दूसरी एजेन्सियां, दूसरे मध्यस्थ आड़े आते हैं। परन्तु यह सावधानी जरूर रखनी चाहिए कि जिसका पेट भरा हुआ है उस पर और अन्न का भार न लादा जाये, अन्नदान का अतिरेक न हो जाये, उससे आलस्य को प्रोत्साहन न मिले। मूल भावना को स्थिर रखकर विनियोग की पद्धति में इष्ट सुधार करना चाहिए। बुद्धि के प्रकाश में भावना को शुद्ध करने का सामाजिक दर्शन हमें इसमें से मिलता है।

104. स्थिर प्रज्ञा पर ही निर्मित भावना शांतिदायी

राष्ट्र में भिन्न-भिन्न भावनाएं तो रहेंगी ही; वे यदि परिशुद्ध होंगी, तो राष्ट्र में शान्ति रहेगी। परिशुद्ध न होंगी, तो अशान्ति फैलेगी। अशान्ति किसी के भी लिए अनुकूल नहीं हो सकती। तब फिर शान्ति के

लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की कृत्रिम और हिंसक योजनाएं भी की जाती हैं। आज यही हो रहा है। समाज में यदि स्वाभाविक शान्ति रखनी है, तो यही उपाय है कि शुद्ध भावनाएं स्थिर रखकर उनका विकास किया जाये और अशुद्ध भावनाएं हटायी जायें। सद्भावना कौन-सी और असद्भावना कौन-सी, यह बताने की जिम्मेदारी स्थितप्रज्ञ की ही है; चूँकि उसकी बुद्धि स्थिर और तटस्थ हो गयी है, अतः वह सत् और असत् भावनाओं की परख कर सकता है। भावना में कला, संगीत, सौन्दर्य-सम्बन्धी कल्पनाएं, मनोविनोद के साधन, धार्मिक उत्सव, पूजाविधि इत्यादि सभी बातें आ जाती हैं। राष्ट्र के जीवन-विकास के लिए इन सब विभागों का उचित विकास आवश्यक है। इनके सम्बन्ध में यदि राष्ट्र में चाहे-जैसी धारणाएं रूढ़ हों, तो उस राष्ट्र की अधोगति होगी। उसमें अव्यवस्था फैल जायेगी। अर्थात ये सब चीजें स्थिरबुद्धि के आधार पर खड़ी करनी चाहिए। स्थिरबुद्धि का अर्थ है, शास्त्रीय बुद्धि। उसमें आत्मज्ञान, शरीर-विज्ञान, सृष्टि विज्ञान, सृष्ट-पदार्थ-विज्ञान, गणित, चिंतन-शास्त्र इत्यादि सब आ गये। ऐसी स्थिरबुद्धि की शास्त्रीय बुनियाद पर सामाजिक भावनाएं निर्मित हों, तो फिर अपने-आप शान्ति रहेगी। उसकी स्थापना के लिए कृत्रिम उपाय नहीं करने पड़ेंगे। ऐसा समाज अहिंसक रहेगा। सारा राष्ट्रीय विधान ही ऐसा होगा कि शान्ति उसका स्वाभाविक लक्षण होगा। **105. अतः स्थितप्रज्ञ का नेतृत्व स्वीकारना चाहिए**

इसके लिए समाज को इतना बुद्धिशाली होना चाहिए कि वह मार्गदर्शन की जिम्मेदारी स्थितप्रज्ञ व्यक्ति पर ही सौंप दे। जिस समाज के लोगों में इतनी बुद्धि नहीं आयी हो, या समाज के बड़े लोगों ने उन्हें इतनी समझ प्रदान न की हो, तो फिर वहाँ मार्ग-दर्शन का काम अस्थिरप्रज्ञ नेताओं के हाथ में रहेगा। स्थितप्रज्ञ के मार्ग-दर्शन में सामाजिक नीति का आधार संयम ही रहेगा। विज्ञान द्वारा जीवन का यथार्थ सत्य खोजा जायेगा और समाज में फैलाया जायेगा। कला यानी हृदय-विकास का हिस्सा वह विज्ञान के आधार पर खड़ा होगा और ऐसा समाज-विधान बनेगा, जो समाज को समतोल रख सकेगा और जिसके फलस्वरूप समाज में स्थायी शांति और समाधान रहेगा।

ग्यारहवाँ व्याख्यान

23

106. 'भावना' शब्द का और थोड़ा विचार

'भावना' शब्द के अर्थ का और थोड़ा विचार कर लेना उपयोगी होगा। वैद्यक-शास्त्र में 'भावना' का अर्थ है घोटना, घोलना, पुट चढ़ाना। होमियोपैथी में दवाएँ घोटी जाती हैं। मर्दन से उनकी ताकत बढ़ती है, उनका गुण बढ़ता है। इसी तरह बुद्धि को घोटते रहने से उसकी शक्ति बढ़कर वही 'भावना' बन जाती है। स्थितप्रज्ञ की बुद्धि परिणत होती है, अतः उसके जीवन में केवल भावना ही रहती है। उसका जीवन भावना से लबालब भरा रहता है। बुद्धि और भावना में एक और भेद है। बुद्धि केवल दिशा दिखाती है। भावना दिशा भी दिखाती है और काम भी करती है। बुद्धि जब कार्यक्षम और कार्यकारी हो जाती है, तब वही भावना बन जाती है। भावना में रूपान्तर करने के लिए बुद्धि को घोटना आवश्यक है। 'सब भूतों में एक ही आत्मा है', यह स्थितप्रज्ञ के लिए तर्करूप बुद्धि नहीं, बल्कि रग-रग में व्याप्त भावना हो जाती है। अतः उसे सारे समाज के प्रति वात्सल्य होता है। माता के मन में अपने बच्चे के प्रति जैसा वात्सल्य रहता है, वैसा ही स्वाभाविक वात्सल्य उसका होता है। तब उसके द्वारा समाज की सेवा सहज स्वभाव से होने लगती है। यहाँ यह शंका अनावश्यक है कि स्थितप्रज्ञ का जीवन बुद्धिमय होता है, तो फिर उसमें भावना के लिए स्थान कैसे रहेगा? क्योंकि, हम देख चुके हैं कि स्थिर हुई बुद्धि ही 'भावना' है। स्थितप्रज्ञ का जीवन बुद्धिमय होता है, इसी लिए वह भावनामय होता है।

107. बुद्धि-प्रधानता बनाम भावना-प्रधानता यह भेद स्थितप्रज्ञ में नहीं रहता

परन्तु ऐसी शंका इसलिए उत्पन्न हो जाती है कि हम प्रायः 'भावना' शब्द का प्रयोग बुद्धि के विपरीत अर्थ में करते हैं और उसकी तुलना बुद्धि के साथ करते हैं। आजकल हम कहते हैं—अमुक व्यक्ति भावना-प्रधान है और अमुक बुद्धि-प्रधान। अर्थात् हम यह कहना चाहते हैं कि एक में भावना की अधिकता और बुद्धि की कमी है तथा दूसरे में बुद्धि की अधिकता और भावना की कमी है। 'भावना-प्रधान' शब्द का अर्थ यहाँ होता है निरंकुश मन, मन पर बुद्धि का अंकुश न रहना। यहाँ 'भावना' शब्द का प्रयोग मन को लक्ष्य करके हुआ है, परन्तु गीता की शिक्षा में जो 'भावना' शब्द आया है, वह हमारी

हृद्गत वस्तु का निर्देश करता है। गीता की भावना मन का विकार नहीं, बल्कि हृदय का गुण है। वस्तुतः गीता हृदय और बुद्धि में भेद नहीं करती, बल्कि यह मानती है कि बुद्धि का जो अंतरतम भाग, हार्द है, वही हृदय है। **हृदि सर्वस्य विष्ठितम्, ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति** इत्यादि वचनों में हृदय का अर्थ 'बुद्धि का भीतरी भाग' ही है। हम जब किसी को 'भावना-प्रधान' कहते हैं, तब वास्तव में हम उसे विकार-प्रधान कहना चाहते हैं। जिस भावना पर बुद्धि की सत्ता नहीं चलती, वही विकार है। गीता को ऐसी भावना अभीष्ट नहीं। इसके विपरीत जब हम किसी को 'बुद्धि-प्रधान' कहते हैं, तब हमारा आशय यह होता है कि इसमें हृदय की आर्द्रता नहीं है, केवल तर्क-शक्ति का ही विकास हुआ है। परन्तु स्थितप्रज्ञ की स्थिति बिलकुल ही दूसरी है। वह अपनी बुद्धि हृदय को सौंप चुका होता है। जो अपनी बुद्धि को घोट-घोटकर भावना में रूपान्तरित कर देता है, उसकी बुद्धि हृदय में विलीन हो जाती है, उसकी बुद्धि और भावना एकरस हो जाती है।

108. बुद्धि को भावना में परिणत करने के उपाय: जप, ध्यान तथा आचरण

हमने अब तक बुद्धि का रूपान्तर भावना में करने के साधारणतः प्रयोगों पर विचार किया। अब कुछ विशेष शास्त्रीय प्रयोगों पर विचार कर लेना चाहिए। इनमें से पहला जप है। 'जप' का अर्थ केवल 'वाणी से उच्चार' नहीं, बल्कि मन में भी वही विचार घुटते रहना चाहिए। इस क्रिया में वाणी सहायक होती है। वह क्रिया मनन जैसी ही होती है, तो भी मनन नहीं है। 'मनन' निर्णय के लिए होता है। जप में तो पूर्व-निर्णय को दृढ़ किया जाता है। यह वाणी द्वारा होता है। जप और मनन में यह फर्क है। यदि इस फर्क को छोड़ दें, तो फिर दोनों क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं रह जाता। दूसरा प्रयोग ध्यान है। 'ध्यान' का अर्थ है उस विचार से तन्मयता, उसके अनुकूल उपासना। इसी में से तीसरा प्रयोग 'आचरण' शुरू होता है। 'विचार के अनुकूल सारे जीवन की रचना' उसका स्वरूप है। इस तरह 1. जप, 2. ध्यान, 3. आचरण, इन तीनों प्रयोगों से बुद्धि का रूपान्तर भावना में होता है।

109. 'भावना' का अर्थ 'भक्ति' भी हो सकता है। भक्ति के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं

इस विषय का विचार और भी एक दृष्टि से किया जा सकता है। स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में दर्शित 'बुद्धि' आत्मनिष्ठ बुद्धि है। जब आत्मज्ञान घुट-घुटकर आत्मसात् हो जाता है, तब उसका रूपान्तर भक्ति में होता है। अतः यहाँ 'भावना' शब्द का अर्थ भक्ति भी लिया जा सकता है। बोध को प्रेम का रूप प्राप्त होना, अर्थात् ज्ञान को भक्ति का रूप मिलना है। जब बोध स्थिर हो जाता है, तो वह इतना प्रिय लगने लगता है कि मन नित्य-निरन्तर उसी में रमने लगता है। इससे बोध का रूपान्तर प्रेम में होता है। अतएव भावना का अर्थ 'भक्ति' किया जा सकता है। यह बात तुरन्त ही समझ में आती है कि प्रेम के बिना अथवा भक्ति के बिना शान्ति नहीं होती। बोध जब अत्यन्त प्रिय हो जाता है, तब मन उसमें रमने लगता है, उससे घिर जाता है, मंत्रमुग्ध-सा हो जाता है। ऐसा हो जाने पर फिर अशान्ति हमें नहीं छू सकती। पेड़ की जड़ को रोज पानी मिलता रहे, तो वह सदा लहलहाता रहता है। इसी तरह यदि अंतरतम में बोध का झरना सतत बहता रहे, उसे प्रेम का रूप प्राप्त हो जाये और सतत प्रेम-रस मिलता रहे, तो जीवन सदा लहलहाता रहता है। विपत्तियां आ जाने पर भी वे सम्पत्ति का रूप ले लेती हैं। उनसे शान्ति बढ़ती है। इसी तरह बोध एवं भक्ति का अभेद्य सम्बन्ध है। बोध के बिना भक्ति नहीं, भक्ति के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं।

24

110. परन्तु 'सुख' का अर्थ 'मन का सुख' नहीं। मन का सुख भिन्न है, मनुष्य का सुख भिन्न है

परन्तु यहाँ 'सुख' का अर्थ 'मन का सुख' नहीं है। मन का सुख-दुःख और होता है, मनुष्य का और। मन को सुख-दुःख होने से यह अनिवार्य नहीं है कि मनुष्य को भी सुख-दुःख हो ही। आज इतने लोग देश के लिए मानसिक दुःख सहते हैं। उससे मन को कष्ट होता है, तो भी उन्हें सुख ही मालूम देता है, क्योंकि उसमें कल्याण की कल्पना रहती है। जीभ को जो मीठा या कड़वा लगता है, वह मनुष्य को भी वैसा ही लगता हो, सो बात नहीं। दवा जीभ को कड़वी लगती है, परन्तु मनुष्य को मीठी ही लगती है। अतः मनुष्य को जब मानसिक दुःख कल्याणकर मालूम होता है, तो वह उसे सहर्ष स्वीकार करता है। अतः मानसिक सुख-दुःख की व्याख्या से जीवन-दृष्टि से की गयी सुख-दुःख की व्याख्या भिन्न है। शरीर को सुख आरोग्य से मिलता है, किन्तु शरीर में बल का मचलना—फूट निकलना, दीवार से टक्कर

मारने की उमंग पैदा होना, आरोग्य का लक्षण नहीं है। उसका बल स्वयं उसी से नहीं संभल पाता। बल ही एक बीमारी हो बैठता है। 'आरोग्य' का अर्थ है, शरीर का समतोल रहना। आरोग्य एक बात है, बल का उद्रेक दूसरी। आरोग्य में स्वस्थता रहती है। बेकाबू बल में क्षोभ होता है। उसी तरह जिस सुख से मन को हर्ष होता है, वास्तव में वह सुख ही नहीं है। जीवन के वास्तविक सुख भिन्न होते हैं। उनका निवास शान्ति में होता है, चित्त की खलबली में नहीं। उनका आरम्भ निर्विकारता से होता है। निर्विकारता से बोध, बोध से भक्ति अथवा निष्ठा, फिर शान्ति और फिर कभी फीका न पड़ने वाला सुख—ऐसी परम्परा है।

111. होनेपन का सुख ही सच्चा सुख : वही सतत रुचियुक्त सुख

दूसरे सुखों से शान्ति भंग होती है, अतः उनसे जी ऊबता है। हमेशा वही-की-वही चीज अच्छी नहीं लगती। उसमें परिवर्तन की इच्छा होती है। परन्तु आत्मा का सुख ऐसा है कि उससे जी नहीं ऊबता। इच्छा होती है कि वही निरन्तर बना रहे। वह सुख सतत रुचियुक्त होता है। संगीत चाहे कितना ही मधुर हो, पर चौबीस घंटे कान पर वही-वही राग, स्वर तथा धुन आते रहने से जी ऊब जाता है। यही बात रंगों की है। तरह-तरह के रंगों को देखकर थोड़ी देर के लिए आँखों को अच्छा लगता है, परन्तु यदि इन रंगों का आक्रमण आँखों पर सतत होने लगे, तो वे परेशान हुए बिना नहीं रहेंगी। आराम के लिए वे आकाश के रंगहीन नीले रंग का सहारा खोजने लगेंगी। आकाश के नीले वर्ण से आँखें थकती-ऊबती नहीं, इसी लिए उपासकों ने ईश्वर का रूप 'गगन-सदृश' माना है। दूसरे चटकीले रंगों में और आकाश के सौम्य रंग में जैसा अन्तर है, वैसा ही दूसरे सुख और आत्म-सुख में है। आत्म-सुख यानी अपने होनेपन का अखंड सुख। कोई क्षणभर के लिए भी नहीं चाहता कि मैं न होऊँ। शरीर छूट जाये, यह तो भले ही कोई चाहे। अमुक स्थान में न रहूँ, यह भी किसी की इच्छा हो सकती है; परन्तु यह कोई नहीं चाहता कि बिलकुल न होऊँ। अपने अस्तित्व से हमारा जी कभी ऊब ही नहीं सकता। केवल अस्तित्व का सुख सतत और अरुचि से परे होता है। शेष सब सुख अस्तित्व के विकार हैं। अस्तित्व का भान भी विकार ही है ।

112. कुंभक का उदाहरण

इसलिए योग-शास्त्र में कुंभक के संकेत से आत्मा के केवल अस्तित्व का दर्शन कराया जाता है। साँस अन्दर लेने की क्रिया पूरी हो चुकी है, बाहर छोड़ने की क्रिया अभी शुरू नहीं हुई है। इस बीच का जो अति-सूक्ष्म उभयवृत्तिवर्जित, निष्क्रिय, तटस्थ क्षण होता है, उसका चिन्तन करने से 'केवल अस्तित्व' का दर्शन होता है। इसलिए कुछ गुमराह साधक इस क्षण को अधिक-से-अधिक लंबाने का स्थूल प्रयत्न, जिसे 'दीर्घ कुंभक' कहते हैं, साधने का प्रयास करते हैं। वस्तुतः आवश्यकता कुंभक को लंबाने की नहीं, बल्कि कुंभक-दृष्टांत द्वारा सूचित आत्मस्थिति को पहचानने की और उसी अनुभव में सतत स्थिर रहने की है। कुंभक तो मात्र उदाहरण है। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। ज्ञानदेव ने 'अमृतानुभव' (ग्रंथ) में ऐसे अनेक दृष्टांत एक जगह एकत्र किये हैं। 'रात समाप्त हुई, दिन का आरम्भ अभी नहीं हुआ है', 'वर्षाकालीन नदी का चढ़ाव समाप्त हो गया है, परन्तु अभी ग्रीष्मकालीन उतार शुरू नहीं हुआ है।' जैसे ये दृष्टांत हैं, वैसे ही कुंभक भी एक दृष्टांत है। अब कुंभक-प्रक्रिया को शारीरिक कारणों से लंबाना हो, तो बात दूसरी है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो सिर्फ मध्यस्थ दशा की ओर ध्यान खींचना है। केवल निरुपाधिक मध्यस्थ दशा लक्ष्य है। हमें अपने सारे जीवन की समस्त उपाधियों से मुक्त होना आना चाहिए। 'मैं यह हूँ', 'मैं वह हूँ'—ऐसे सारे विशेषणों को निकालने में समर्थ हो जाना चाहिए। तमाम गुण-दोषों का निरास करते-करते मनुष्य का जो मूल उपशांत स्वरूप शेष रह जाता है, उसी में सुख है। यह दिखाने के लिए कि शांतिमय सुख दूसरे साधारण सुखों से भिन्न है, उसे नित्यसुख, आत्मसुख, चित्-सुख आदि कहते हैं। वही वास्तविक सुख है, इसलिए उसे 'सत्यसुख' भी कह सकते हैं। 'सच्चिदानंद' शब्द में यही भाव सूचित है। आत्मा में बुद्धि के स्थिर हो जाने पर वह सुख प्राप्त होता है। इसलिए जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो गयी है, उसका जीवन सुखी है।

113. आत्म-सुखानुभूति का व्यवहार से विरोध नहीं है। आत्मबोध बाह्य उद्योगों में खर्च न होने देना पर्याप्त है

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि हम आत्मा से बाहर के विषयों में बुद्धि को लगायें ही नहीं, तो लोक-व्यवहार कैसे चलेगा? चमड़े का व्यवसाय तो करें, पर उसमें बुद्धि न लगायें, तो फिर वह उद्योग चलेगा कैसे ? उसे करें भी क्यों? यदि बुद्धि को आत्मा में स्थिर रखना है, तो फिर ये बाहर के काम-

काज— उद्योग—होंगे कैसे? इसका समाधान यह है कि सामान्य लोक-व्यवहार में जिस बुद्धि का उपयोग होता है, वह बुद्धि की एक शक्ति है। उसे 'तर्क' कह सकते हैं। बाहरी बातों में उससे काम लिया जाये तो हर्ज नहीं, परन्तु 'अहं-बुद्धि' नामक जो बुद्धि का सारभाग है, उसे आत्मा में स्थिर रखकर हमें तटस्थ रहना चाहिए। आत्मबोध को बाहरी उद्योग में खर्च नहीं करना चाहिए। साधारण बुद्धि को लोक-व्यवहार में लगाकर दूसरी तरफ आत्मबोध में लीन रहना, यह है तो मुश्किल, परन्तु इस कारण उसे छोड़ नहीं देना चाहिए। निरन्तर प्रयत्न करने से वह सध जायेगा, क्योंकि वह कृत्रिम नहीं है। अतः यह निश्चित है कि उसमें सफलता मिलेगी।

114. आत्मबोध को खंडित न होने देने की युक्ति : पहले क्षण आघात का असर न होने दें

इसकी मैंने एक युक्ति खोज निकाली है। किसी भी बाह्य वस्तु का परिणाम उसी क्षण नहीं होने देना चाहिए। दूसरे क्षण हो तो परवाह नहीं, परन्तु पहले क्षण तो नहीं होने देना चाहिए। किसी ने विनोद किया, पहले क्षण आप मत हँसिए। किसी ने एक तमाचा जड़ दिया, पहले क्षण आँखों में आँसू मत आने दीजिए। पहले क्षण तो यह प्रतीत होने दीजिए, मानो वह भगवान् का स्पर्श है। दूसरे क्षण चाहे तो भले ही आँसू आ जाये। माँ के मर जाने की खबर आ जाये, तो पहले क्षण हृदय को धक्का मत लगने दो। अपनी शान्ति को विचलित न होने दो। यदि मन पर इतना काबू पा लिया, तो फिर आगे की बातें अपने-आप सध जायेंगी।

बारहवाँ व्याख्यान

25

115. इन्द्रियों के पीछे जानेवाला मन बुद्धि को भी खींच ले जाता है। इसलिए संयम की आवश्यकता

आगे के श्लोक में संयम की आवश्यकता फिर एक दूसरी तरह से बतलायी है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन् मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि॥

जब इन्द्रियाँ स्वच्छंद बरतने लगती हैं और मन उनके पीछे जाता रहता है, तो फिर बुद्धि साबित और तटस्थ नहीं रह सकती। जब मन इन्द्रियों की तरफ चला जाता है, तो इन्द्रियाँ और मन मिलकर उनका पक्ष प्रबल हो जाता है। फिर बुद्धि अपना काम नहीं कर पाती। इसका अर्थ यह नहीं कि बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि का अबुद्धि हो जाना शक्य नहीं है, इसलिए वह कुबुद्धि बन जाती है और उस दशा में वह अबुद्धि से भी ज्यादा अनर्थकारिणी हो जाती है। परन्तु मन यदि बुद्धि की तरफ आ जाये तो फिर बुद्धि का पक्ष जोरदार हो जायेगा और इन्द्रियों को उनके पीछे चलना पड़ेगा। जब बुद्धि के अनुकूल मन और मन के अनुकूल इन्द्रियाँ हो जाती हैं, तब जीवन का सारा व्यवहार आत्मा के अनुकूल हो जाता है। इसके विपरीत यदि इन्द्रियों के पीछे मन और मन के पीछे बुद्धि चलने लगे, तो वह चाहे जैसे प्रयोग करने लगती है और मन के पक्ष का समर्थन करने के लिए तरह-तरह के कुतर्क रचने लगती है। ऐसा होने पर जीवन का सारा व्यापार आत्मा के प्रतिकूल होने लगता है।

116. बुद्धि नौका की तरह तारक, परन्तु मन की पकड़ में आ जाये तो वही मारक हो जाती है

पहले बुद्धि-नाश की परम्परा बताते हुए एक श्लोक में यह कहकर कि विषय-चिन्तन द्वारा पहले मन पर आक्रमण होता है, अगले श्लोक में यह अलग से दिखाया है कि फिर मोह आदि उत्पन्न होकर उनकी आँच बुद्धि को कैसे लगती है। उसी का स्पष्टीकरण यहाँ किया जा रहा है। जब सवार के हाथ में लगाम और लगाम के वश में घोड़ा हो, तब सवार बेखटके मुकाम पर पहुँच सकता है; इसके विपरीत घोड़े के वश में लगाम और लगाम के वश में सवार हो जाये तो फिर मुकाम पर पहुँचने की कोई आशा

नहीं, ऐसा कठोपनिषद में विवेचन है। वही बात यहाँ नाव की उपमा देकर समझायी गयी है। बुद्धि नाव की तरह तारक है, परन्तु वह यदि हवा के वश हो जाये, तो फिर पार नहीं लगा सकती। बुद्धि यदि मन की पकड़ में आ जाये, तो फिर उसकी तारक-शक्ति नष्ट हो जाती है और वह डुबोने का कारण बन जाती है।

117. बुद्धि और मन सदा के लिए अलग नहीं हो सकते। या तो बुद्धि मन के वश हो जायेगी, या मन बुद्धि के वश में रहेगा। दूसरी बात श्रेयस्कर

यदि ऐसी कोई युक्ति होती कि जिससे मन इन्द्रियों के पीछे चला जाये, तो भी वह बुद्धि को छू न सके, तब तो हम कह सकते थे कि वह खुशी से जाये, हमारा कया बिगड़ेगा! बुद्धि और आत्मा का पक्ष मजबूत हो जाने पर हम यह मान सकते थे कि मन यदि इन्द्रियों के चक्कर में आकर विषयों की ओर झुके भी, तो हमें परवाह नहीं है। हम लोगों को ऐसा कहते हुए सुनते भी हैं कि "भले ही हम विषय-विलास में लगे हों, तो भी हमारी बुद्धि उसमें फँसती नहीं। विचार करते समय हम उस विषय को भूलकर तटस्थता से विचार करते हैं।" परन्तु यह भ्रम है। ऐसा हो नहीं सकता। हो तो यह सकता है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—तीनों को एक पक्ष में रखकर हम उससे भिन्न या पृथक् रहें; क्योंकि आत्मा बिलकुल पृथक् है। आत्मा और बुद्धि के बीच में खाली जगह है। उनके बीच में आप दीवार खड़ी कर सकते हैं। परन्तु यह स्थितप्रज्ञता-प्राप्ति के बाद ही संभव है। यही वेदान्त है। यह है तो कठिन, परन्तु शक्य है। मन और बुद्धि के बीच खाली जगह नहीं है। वे परस्पर संबद्ध हैं, इसलिए जिस तरह आत्मा एक ओर और बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ दूसरी ओर, ऐसे दो विभाग बेझिझक किये जा सकते हैं; वैसे आत्मा और बुद्धि एक ओर तथा मन और इन्द्रियाँ दूसरी ओर, ऐसे विभाग करने की गुंजाइश नहीं है। तब फिर या तो इन्द्रियों के अधीन मन और मन के अधीन बुद्धि हो सकेगी, अथवा बुद्धि के अधीन मन और मन के अधीन इन्द्रियाँ हो सकेंगी। इनमें दूसरा मार्ग इष्ट और श्रेयस्कर है, ऐसा संकेत यहाँ किया गया है।

26

118. ज्ञानदेव का विशिष्ट निर्देश: ज्ञानी के लिए भी असावधान होकर इन्द्रियों को खुला छोड़ देने की गुंजाइश नहीं

परन्तु इस श्लोक में यदि इतना ही बताया गया होता, तो कोई विशेष बात नहीं थी। अतः इसमें कोई विशेष अर्थ गर्भित होना चाहिए। जरा बारीकी से हम उसकी खोज करें। ज्ञानदेव ने यह अर्थ स्पष्ट किया है। उनके मतानुसार इस श्लोक में खतरे की घंटी बजायी गयी है। इसमें यह सूचित किया गया है कि मनुष्य भले ही लगभग स्थितप्रज्ञ हो गया हो, तो भी उसे असावधान नहीं रहना चाहिए। ज्ञानदेव कहते हैं—

प्राप्तें ही पुरुषें। इन्द्रियें लाळिलीं जरी कौतुकें।
तरी आक्रमिला जाण दु:खें। सांसारिकें ।।

('प्राप्त पुरुष भी यदि कुतूहल से इन्द्रियों को दुलरावे, तो उस पर प्रापंचिक दु:खों द्वारा आक्रमण हुआ ही समझो।') 'प्राप्त' अर्थात् पहुँचा हुआ पुरुष, यानी जो मंजिल पर पहुँच गया है। तो ऐसा स्थिरबुद्धि पुरुष इन्द्रियों का दुलार क्यों करने लगा? इसलिए 'कुतूहल से' कहा है। वह यदि सहज भाव से, कुतूहल से, असावधानी अथवा गफलत में आकर इन्द्रियों को खुला छोड़ने लगे, तो फिर उसका भी मन उससे बलवान होकर उसे खींच ले जायेगा। यह अर्थ ज्ञानदेव को कैसे सूझा होगा, इस पर विचार करने पर उनकी बुद्धि की सूक्ष्मता का परिचय मिलता है। इस श्लोक में ऐसी भाषा नहीं है कि जिस तरह हवा नाव को खींच ले जाती है, उस तरह मन 'बुद्धि' को खींच ले जाता है। बुद्धि की जगह यहाँ जो 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग किया गया है, सो क्या फिजूल है? इस 'प्रज्ञा' शब्द से ज्ञानदेव ने यह आशय लिया कि मनुष्य को किसी भी दशा में अपने मन को ढीला नहीं छोड़ना चाहिए। समर्थ रामदास ने भी अपने 'मनाचे श्लोक' में अन्तिम उपदेश इसी तरह का दिया है, **मना गूज रे तूज हें प्राप्त जालें,** अर्थात् अरे मन, तुझे जो कुछ मिलना था, सो सब मिल गया है। तू अपने मुकाम पर पहुँच गया है। फिर भी गाफिल रहना ठीक नहीं। **परी अंतरीं पाहिजे यत्न केले।** 'रहस्य पा लेने पर भी तू अपना हाथ कसा हुआ रख। ढीला मत छोड़।' अर्थात् उनका आशय यह है कि बुद्धि के स्थिर होकर प्रज्ञा-रूप हो जाने के बाद भी हम असावधान न रहें, लगाम ढीली न करें।

119. वस्तुतः ज्ञानी नियम से नहीं, स्वभाव से संयमी रहता है

परन्तु ज्ञानदेव ने दूसरी जगह कुछ भिन्न उद्गार व्यक्त किये हैं—"गंगा जब समुद्र के पास पहुँचती है, तो उसकी गति मंद हो जाती है", "शत्रु को जीत लेने पर तलवार का हाथ ढीला हो जाता है।" इन

उद्गारों से यह ध्वनित होती है कि ज्ञानी को साधना की जरूरत नहीं रहती। और यहाँ तो उसे सावधान किया जा रहा है। इनका मेल कैसे हो? इसका मेल यह है कि ज्ञानी के लिए सावधानता ही सहज हो जाती है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में शंकराचार्य ने यही अर्थ कुछ भिन्न भाषा में दिया है। "आत्मज्ञानी स्वच्छंद आचरण कैसे करेगा? स्वच्छंद आचरण के लिए भी तो कुछ अहंकार आवश्यक होगा न!" उनकी यह उक्ति बड़ी मार्मिक है। वह तो संयम के ही आधार पर स्थितप्रज्ञ हुआ है। वह असंयत व्यवहार कैसे करेगा? संयत व्यवहार ही तो उसका स्वभाव है। स्थितप्रज्ञ के लिए अब नियम नियम नहीं रहता, संयम संयम नहीं रहता। उसके पास ऐसा भेद-भाव बाकी नहीं रहता कि नियम मुझसे कुछ भिन्न हैं और उनका पालन करना है। सूर्य नियम के कारण प्रकाशित नहीं होता, स्वभाव से प्रकाशित होता है। गंगा नियम के कारण नहीं बहती, स्वभाव से बहती है। यही स्थिति स्थितप्रज्ञ की होती है।

120. ज्ञानी तो कया, साधक को भी संयम भाररूप नहीं होता

पर क्या इन्द्रिय-संयम उसके लिए एक भार है? बल्कि इन्द्रियों क असंयम ही भार है। कोई व्यक्ति गणित पढ़कर पारंगत हो गया, बड़ा गणितज्ञ बन गया, तो कया वह चाहेगा कि अब मेरे लिए गणित के नियम न रहें? क्या वह यह कहेगा कि अब मेरे लिए दो और दो चार नहीं, बल्कि तीन हुआ करें? यदि हां, तो फिर उसका गणित खतम हुआ और कहना होगा कि उसका दिमाग ठिकाने नहीं है। जब तक हम यह समझते रहेंगे कि संयम भार है, भार है, तब तक वह अप्रिय ही लगेगा। साधक भी तो ऐसा नहीं समझता। हाँ, यह ठीक है कि साधक को शुरू-शुरू में संयम थोड़ा तापदायक मालूम होगा। और वह तापदायक होता है, इसी से तो उसे 'तप' कहा है। यदि संयम में बिलकुल ही ताप न हो, तो फिर वह 'तप' किस बात का? परन्तु शुरू में यद्यपि संयम थोड़ा तापदायी हो, तो भी साधक को वह भार नहीं लगता, उसमें उत्साह ही लगता है। मुसाफिर को लड्डू की झोली कया भारी लगेगी? अतः जब साधक को ही संयम भाररूप नहीं लगता, तो फिर स्थितप्रज्ञ के लिए तो उसका सवाल ही नहीं रहता।

121. स्थितप्रज्ञ के लिए असंयम अशक्य: क्योंकि स्थिर बुद्धि का तो आधार ही संयम है

अभ्यास हो जाने से संयम स्थिरबुद्धि का एक अंग ही हो जाता है। स्थिरबुद्धि संयम पर ही खड़ी रहती है। स्थिरबुद्धि हो जाने पर मनुष्य का संयम के विषय में ही ढिलाई करना संभव नहीं। मनुष्य और

सब डालियों को काट डालेगा, परन्तु जिस डाल पर वह बैठा है, उसे कैसे काटेगा? स्थिरबुद्धि चूंकि संयम पर खड़ी है, तो संयम पर ही कुल्हाड़ी नहीं चलायेगी। अतः यदि स्थिरबुद्धि संयम पर ही प्रहार करने लगी, तो समझो कि वह आत्महत्या ही कर रही है। ज्ञानदेव का आशय यही है। उसका अर्थ यह नहीं है कि स्थितप्रज्ञ को नित्य प्रयत्नशील रहना पड़ता है। परन्तु मान लें कि संयम के विषय में उसने ढिलाई की तो फिर इससे स्थितप्रज्ञता की बुनियाद ही ढह जायेगी। और इसलिए उससे ऐसा हो नहीं सकता, यह इस श्लोक का गहरा अर्थ है।

122. सावधानता की अपेक्षा न रखनेवाली सहजावस्था एक प्रकार से मानवीय आकांक्षा मात्र है; अतः सावधानी का संकेत हर हालत में उच्चित ही है

एक ओर से यह कहा जाता है कि स्थितप्रज्ञ को साधना की अथवा सावधानता की जरूरत नहीं है, तो दूसरी ओर से यह भी कहते हैं कि उसको भी इसकी जरूरत है। हमने इन दो परस्परविरुद्ध भासित होनेवाले कथनों में इस तरह मेल बैठाया कि स्थितप्रज्ञ के लिए सावधानता सहज होती है। दूसरी तरह से भी यह मेल बैठाया जा सकता है। ऐसी सहजावस्था, जिसके लिए सावधानता की अपेक्षा न हो, एक तरह से मनुष्य की मात्र आकांक्षा है। लाखों लोगों के लिए तो वह कम-से-कम ऐसी ही है। इस देह में स्थितप्रज्ञ की पूर्ण व्याख्या तक पहुँच जाना अशक्य न हो, फिर भी बहुतों की दृष्टि से वह अशक्य-सा है। साधक की भूमिका जैसे-जैसे प्रगत होती जायेगी, वैसे-वैसे स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का उसका अर्थ भी सूक्ष्म होता जायेगा। और इसलिए मनुष्य साधारणतया ऐसी स्थिति को नहीं पहुँच सकेगा, जिसमें वह यह मान सके कि मैं स्थितप्रज्ञ हो गया। एक दृष्टि से यह इष्ट भी है। जब तक देह है, तब तक विकास की गुंजाइश का होना वांछनीय है, बल्कि देह का अस्तित्व ही इस बात का एक संकेत समझना चाहिए कि ऐसी गुंजाइश है। टॉल्स्टॉय के कथनानुसार साधक और उसके ध्येय में इस तरह निरन्तर पकड़ा-पकड़ी का खेल चालू रहने में ही मजा है। साधक को जहां यह लगने लगा कि ध्येय को मैंने 'यह पकड़ा' कि तुरन्त 'यह मैं खिसका' कहकर ध्येय आगे दौड़ जाता है। इसी में साधना की प्रतिष्ठा है। अतः साधक के लिए खतरे की घंटी बजा देना हर हालत में उचित ही है। किन्तु इससे यह अनुमान नहीं निकाल लेना चाहिए कि 'फिर ध्येय-प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती।' ईश्वर-कृपा से ध्येय-प्राप्ति अवश्य होगी। परन्तु जिस क्षण मनुष्य के मन में यह कल्पना आ गयी कि अब मैं पहुँच गया, अब मुझे अपने मन को खुला

छोड़ देने में हर्ज नहीं है, तो उसी क्षण वह प्राप्ति चली गयी, खो गयी ऐसा समझना चाहिए। कई बार ऐसा हो जाता है कि तैरनेवाला किनारे पर पहुँचता है, किनारे पर हाथ टेक भी देता है, परन्तु फिर हाथ छूटकर वह पानी में बह जाता है। अतः हाथ का किनारे को छू जाना काफी नहीं है। जब पाँव किनारे पर चढ़ जायें, तभी पहुँचा समझना चाहिए। अतः यह कहना कि ठेठ अंत तक संयम में ढिलाई नहीं चल सकती, साधक के हित में है।

123. इस तरह संयम की आवश्यकता आदि से अंत तक सिद्ध हुई, अतः निगमन

इस तरह संयम की आवश्यकता शुरू से आखिर तक साबित हुई, अर्थात् पूर्णतया साबित हुई। संयम की जरूरत साद्यंत सिद्ध हो जाने पर अब 'तस्मात्' शब्द जोड़ने में आपत्ति नहीं—

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणींद्रियार्थेभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

इसमें 'तस्मात्'—'इसलिए' शब्द जोड़कर शुरू की प्रतिज्ञा को केवल दुहराया है। तर्कशास्त्र में इसे 'निगमन' कहते हैं। शुरू में मूल सिद्धान्त बताना, फिर युक्तियों से उसे सिद्ध करना और अंत में फिर उस प्रतिज्ञा को दुहराना, यह तर्कशास्त्र की रीति है। इस विधि से शास्त्र का समाधान हो जाता है। यह रेखागणित के क्यू. ई. डी. (Q.E.D.) अर्थात् 'इति सिद्धम्' की तरह है। गीता की पद्धति अक्षरशः तर्कशास्त्र की नहीं है। शास्त्र के चौखटे में फँसाकर साधारण मनुष्य की बुद्धि को व्यर्थ ही परेशान करने में उसे रुचि नहीं है। अतः उसने अपने विवेचन में ऐसी सरल संवाद-पद्धति का आश्रय लिया है, जिसे साधारण मनुष्य भी समझ सके। फिर भी वह शास्त्र की उपेक्षा नहीं करती है, और यह विवेचन तो खास करके संयम की सात्त्विक उपपत्ति बतलाता है, इसलिए शास्त्रीय शैली आवश्यक भी हो गयी है। अतः शास्त्र के संतोष के लिए यह एक श्लोक और अधिक खर्च किया है। **यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः** —इस श्लोक में जो कहा है, बिलकुल वही यहां दुहराया है। सिर्फ कछुए की उपमा को छोड़कर उस श्लोक का ज्यों-का-त्यों पुनरुच्चार किया गया है। यही निगमन का स्वरूप होता है।

५. विहाराधिकरणम्

तेरहवाँ व्याख्यान

28

124. अंतिम विभाग : स्थितप्रज्ञ की स्थिति का खुलासा

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के दो विभाग समाप्त हुए। अब तीसरा और अन्तिम विभाग शुरू होता है। पहले चार श्लोकों के विभाग में स्थितप्रज्ञ की व्याख्या और उस व्याख्या का विवरण बताया गया है। मध्यम विभाग में उसी सिलसिले में तीन श्लोकों में संयम का विज्ञान और सात श्लोकों में संयम का तत्वज्ञान स्पष्ट किया है। अब अंतिम विभाग में स्थितप्रज्ञ की स्थिति का खुलासा करके उसकी फलश्रुति कहनी है। तीन श्लोकों की एक त्रिसूत्री में स्थिति का खुलासा होगा और अन्तिम श्लोक में फलश्रुति कही जायेगी।

125. खुलासे का पहला सांकेतिक श्लोक : इनकी रात सो उसका दिन, और उसकी रात सो इनका दिन

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

यह खुलासे का पहला श्लोक है। इसका अक्षरार्थ इस प्रकार है—"जहाँ प्राणीमात्र सोते रहते हैं, वहां स्थितप्रज्ञ जागता रहता है और जहाँ प्राणीमात्र जागते रहते हैं वहाँ स्थितप्रज्ञ मजे में सोता रहता है।" परन्तु यहाँ अक्षरार्थ नहीं लेना है, लाक्षणिक अर्थ लेना है, यह कहने की जरूरत नहीं। यदि शाब्दिक अर्थ लेंगे तो यह श्लोक स्टेशनमास्टर, चोर, रातपालीवाले मजदूर आदि पर लागू होगा। गांधीजी ने इस श्लोक का थोड़ा-सा अक्षरार्थ भी दुहने का प्रयत्न किया है। "साधारण लोग रात का समय विलास आदि में बिताते हैं और सुबह सोते रहते हैं, परन्तु संयमी रात में सो जाता है और बड़े सबेरे ही उठकर मनन-चिंतन में लग जाता है।" इस तरह उन्होंने इसका उपयोगी अक्षरार्थ दुह लिया है, परन्तु उन्होंने भी इस शाब्दिक अर्थ को मुख्य नहीं माना है। वे जानते हैं कि इसका सूक्ष्म और लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण करना है और उन्होंने आगे चलकर अपनी पद्धति के अनुसार वैसा अर्थ किया भी है।

126. अर्थात् स्थितप्रज्ञ की कुल जीवन-दृष्टि ही दूसरों से विपरीत होती है

इस श्लोक के रूपक द्वारा स्थितप्रज्ञ की जीवन-दृष्टि बतायी गयी है। स्थितप्रज्ञ की जीवन-दृष्टि और अज्ञानियों की जीवन-दृष्टि में बड़ा अन्तर है। जैसे दो समानांतर रेखाओं का कहीं स्पर्श-बिन्दु ही नहीं होता, वैसी ही स्थिति इस दोनों की जीवन-दृष्टियों की है। स्थितप्रज्ञ की दृष्टि ही बदल जाती है। मीराबाई ने कहा—**उलट भइ मोरे नयनन की**—ऐसी उसकी हालत हो जाती है। वस्तुतः उसकी दृष्टि उलटी नहीं होती, बल्कि वही सीधी होती है। संसार की ही दृष्टि उलटी है; परन्तु वह बहुसंख्यक लोगों की होने के कारण सीधी समझी गयी है। बहुसंख्या को क्यों दोष दें? इसलिए मीराबाई ने अपनी ही दृष्टि को उलटा कह दिया। सो जब मूल जीवन-दृष्टि में ही फर्क हो गया, तो फिर जीवन की तमाम क्रियाओं में वह चरितार्थ होता जायेगा।

127. भोजन का उदाहरण

खाना शरीर-धारण के लिए आवश्यक है। साधारण मनुष्य खाना खायेगा और स्थितप्रज्ञ भूखा रहेगा, सो बात नहीं। स्थितप्रज्ञ भी भोजन करेगा। दोनों की बाहरी क्रियाएँ एक-सी होंगी। परन्तु वृत्ति, विचार और भावना एक-सी नहीं होंगी। स्थितप्रज्ञ का भोजन एक यज्ञ है। वह केवल शरीर-धारण के लिए तटस्थ भाव से किया जायेगा। उसका स्वरूप उपनिषद की और शंकराचार्य की भाषा में 'औषध-रूप' होगा, या गांधीजी की भाषा में 'जिस घर में हम रहते हैं, उसका भाड़ा देने जैसा होगा, या एक वैज्ञानिक की भाषा में 'जब यंत्र से काम लेते हैं, तो उसे तेल देना ही चाहिए' ऐसा होगा। शरीर को स्वस्थ और कार्यक्षम रखने के लिए वह उसे आहार देगा। उसमें उसकी भोग-वृत्ति नहीं रहेगी। अन्य लोगों के भोजन में भोग, आनन्द, मौज-मजा का भाव होता है। उसके लिए कितनी बुद्धि, समय और श्रम खर्च किया जाता है! कैसा भारी आयोजन और संगठन किया जाता है! आधा मानव समाज—सभी स्त्रियाँ—लगभग उसी काम में लगा दी गयी हैं। भोजन का इतना बड़ा आडम्बर रच दिया गया है। स्थितप्रज्ञ का भोजन शास्त्रीय दृष्टि से होग़ा और उसके मूल में गंभीर हेतु होगा, जब कि औरों का भोगमय और बालिश होगा।

128. नींद का उदाहरण

यही स्थिति नींद की है। प्राणीमात्र को शरीर-धारण के लिए भोजन की तरह नींद भी आवश्यक क्रिया है। परन्तु दूसरे प्राणी जब सोते हैं, तो आलस्य में पड़ जाते हैं, सपने देखते हैं और ज्ञान को भूलते जाते हैं। उनकी एक-एक रात ज्ञान-क्षय का निमित्त बनती है। परन्तु स्थितप्रज्ञ की नींद निर्दोष और निःस्वप्न होती है। उसने एक नींद ली कि उतना उसका विचार-विकास हो गया। यों तो बीज जमीन में छिपा पड़ा रहता है, परन्तु वास्तव में वह अंकुरित होता रहता है। जब कल्ला फूटता है, तो दिखायी देता है। इसी तरह उसकी नींद में नये-नये विचारों को पोषण मिलता रहता है। ऐसा दोनों की नींद में फर्क है। एक की नींद तमोगुण का उत्कर्ष है। कहां वह नींद और कहां यह, जिसमें तीनों गुण साम्यावस्था को पहुँच गये हों, मूल प्रकृति में स्थित हो गये हों। दीखने में दोनों का आकार एक-सा ही दीखता है इससे क्या?

129. सामान्य व्यवहार में यही स्थिति

यही बात साधारण व्यवहार के विषय में भी है। मानापमान की नींव पर ही लोगों का बहुत-सा समाज-शास्त्र और नीति-शास्त्र रचा गया है, किन्तु इसकी तो मानापमान से जान-पहचान ही नहीं। मनुष्य साधारणतया कभी भी सहज भाव से खुलकर नहीं बरतता। जहां-तहां शिष्टाचार के नाम पर उसे अपना व्यवहार दंभ-परिवेष्टित रखना पड़ता है। उसका जीवन सदा बनाव-श्रृंगार से ही सजा रहता है। हर जगह बनावट और ढोंग चाहिए ही! सभा में एक प्रकार का ढोंग, तो समाज में दूसरे प्रकार का, कुटुम्ब में तीसरे प्रकार का, उत्सव में और तरह का, खेल में उससे अलग ढंग का। इस तरह सब जगह ढोंग और ऊपरी सजावट उसके जीवन में रहती है। परन्तु स्थितप्रज्ञ की सभी बातें स्वाभाविक, सरल और खुली होती हैं। इसी तरह उसका साधारण व्यवहार भी दूसरों से बिलकुल साफ तौर पर उलटा दिखायी देगा।

29

130. इस रूपक की भाषा में सांख्य-बुद्धि, योग-बुद्धि और स्थितप्रज्ञ के लक्षण, तीनों एक में लपेट दिये हैं

यद्यपि हमने गीता के रूपक की भाषा में से इस तरह अपने विचार का अर्थ निकाला, तो भी स्वयं गीता क्या सूचित करती है? दिखायी तो ऐसा देगा कि वह कुछ भी नहीं सुझाती है, केवल रूपक की भाषा बोलकर चुप रह जाती है; पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण के बाद गीता का दूसरा अध्याय और सूत्ररूप में गीता भी समाप्त हो जाती है। इसलिए यह समझना चाहिए कि जो विषय शुरू से विस्तार के साथ बताये, उन सबका समावेश इस श्लोक में किया गया है। अब तक पहले तो निर्गुण सांख्यबुद्धि, फिर तदुपकारक सगुण योगबुद्धि और अंत में स्थितप्रज्ञ के लक्षण, जिनमें इन दोनों की परिणति दिखायी देती है—ऐसे तीन विषय बताये गये हैं। इन तीनों विषयों का सार गीता इस श्लोक के रूपक द्वारा प्रस्तुत करती है।

131. सांख्य-बुद्धि का स्वरूप : आत्मा का अकर्तापन। तदनुसार प्रस्तुत श्लोक का पहला अर्थ

(1) सांख्यबुद्धि का मतलब है आत्मा के स्वरूप का ज्ञान। यह ज्ञान प्राप्त कर लेने की झंझट शुरुआत में ही क्यों? इसलिए कि आत्मा का ज्ञान किसी गैर का ज्ञान नहीं है। आत्मा कोई गैर नहीं है। वह मैं ही हूँ। अतः उसका स्वरूप सबसे पहले जान लेना जरूरी है। गीता कहती है—"आत्मा मरता नहीं, मारता नहीं, मरवाता नहीं।" मनुष्य का किसी क्रिया से सम्बन्ध तीन ही प्रकार से आता है—कर्तरि, कर्मणि और हेतुकर्तरि अथवा प्रेरक। ये तीनों आत्मा पर लागू नहीं होते। वह क्रिया का न कर्ता है, न कर्म है, न प्रेरक ही। इतना व्यापक अर्थ यहां सूचित है। 'मरना' क्रिया को सिर्फ उदाहरण के तौर पर लिया गया है। इसका अर्थ यह है कि वह सब क्रियाओं से सब तरह अस्पृष्ट है। शांकरभाष्य में आत्मा के इस अकर्ता-स्वरूप का विवरण दर्पण की तरह स्पष्ट बताया गया हे । आत्मा के अकर्ता-स्वरूप के ज्ञान को प्रकाश कहिए। इसके विपरीत आत्मा को कर्ता समझना अंधकार हुआ। इस अंधकार में समस्त प्राणियों का जीवन अंधा बन गया है; परन्तु स्थितप्रज्ञ का जीवन आत्मा के प्रकाश से नित्य प्रकाशित है। यह प्रस्तुत श्लोक का पहला अर्थ है। साधारण मनुष्य 'मैं अमुक कर्म का कर्ता', 'मेरे कर्म अच्छे', 'मैं अमुक का बेटा', 'अमुक सम्पत्ति का मालिक', 'मेरा यह आकार', 'यह उमर', यह जाति, इत्यादि भावनाओं का जाल अपने आसपास फैलाकर असंख्य कर्मों का बोझ अपने ऊपर लाद लेता है। जब कि स्थितप्रज्ञ यह समझता है कि ये सब मुझ पर लागू नहीं होते, और केवल 'स्वरूपावस्थान' इस एक

ही धर्म को वह जानता है। इतना दोनों के जीवन में भेद है! तो फिर उसे प्रकाश और अंधकार न कहें, तो कया कहें?

132. योग-बुद्धि का स्वरूप : फल-त्याग

(2) आत्मा अकर्ता है, इसलिए यदि देह से भी कर्म छोड़ बैठोगे, तो तमोगुण में जा पड़ोगे; इसके विपरीत यदि कर्म करोगे, तो रजोगुण में पड़ोगे—ऐसा दुहरा पेच है। अतः गीता ने एक युक्ति निकाली। कर्तृत्व जहां जोर मारता हो, वहीं उसे तोड़ डालो। कर्तृत्व जोर कहाँ मारता है? फल के अवसर पर। "मैंने काम किया है, तो मैं वेतन का अधिकारी हूँ!" फल के सम्बन्ध में इस तरह कर्तृत्व का हक जोर मारता रहता है। अतः फल का अधिकार छोड़ देना ही कर्तापन को छोड़ देना है। फलाशा की नोक तोड़ डालें, तो फिर कर्तृत्वविषयक अभिमान चला जाता है। गीता कहती है—"तुमने आत्मा का अकर्तापन मान लिया है। तो जब कि कर्म ही तुम्हारा नहीं है, तो फिर फल कहाँ से होगा?" 'मैं देह से भिन्न अकर्ता हूँ', ऐसा अभ्यास कर्म छोड़ देने से नहीं हो सकता। फल को छोड़ने से ही होगा। आत्मा के अकर्तापन की अनुभूति का आरम्भ कर्मच्छेदन से नहीं, फलच्छेद से होता है। इस तरह बिलकुल 'बालोद्यान' पद्धति से अकर्तापन के अभ्यास का पदार्थ-पाठ गीता ने दिया है। फल को तोड़कर फेंकते जाओ, तो फिर कर्मों को तोड़ फेंकने की जरूरत नहीं रहेगी। समाजशास्त्र और नीतिशास्त्र के अनुसार तुम्हें फल का अधिकार है, परन्तु तुम तो गीता के अनुयायी हुए हो न? गीता-माता का बालक होने का सौभाग्य तुम्हें प्राप्त हुआ है। अतः उसके बालक के अनुरूप ही फल-त्याग का ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त हुआ है।

133. आनुषंगिक चर्चा – 'मा फलेषु' का यह अर्थ कि फल का अधिकार नहीं, गलत है

गीता का वचन, जो फल को तोड़ डालने की युक्ति बताता है, प्रसिद्ध ही है—**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।** परन्तु इसका अर्थ ठीक नहीं किया जाता। 'तुम्हें कर्म करने का अधिकार है, फल का नहीं'—ऐसा इसका अर्थ किया जाता है। परन्तु जब यह पूछते हैं कि यदि कर्म का अधिकार है, तो फिर फल का क्यों नहीं, तो इसका उत्तर दिया जाता है कि फल-प्राप्ति केवल मनुष्य के बस की बात नहीं है, वह अनेकविध बाहरी परिस्थितियों पर अवलम्बित है। अर्थात् यह दैववाद हुआ। इसमें बिलकुल ही तथ्य न हो सो बात नहीं, परन्तु उससे यहां प्रदर्शित विचार सिद्ध नहीं हो सकते।

क्योंकि, अगर और जिस कारण से फल पाना मनुष्य के हाथ में नहीं है; तो, और उसी कारण से, कर्म भी मनुष्य के हाथ में नहीं है। दोनों अनेकविध बाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित रहते हैं। जो बात फल के विषय में है, वही कर्म के विषय में भी है। यदि कर्म का अधिकार है, तो फल का भी है। भले ही परिपूर्ण न हो, आंशिक ही हो, पर है अवश्य। यदि फल का अधिकार नहीं है, तो फिर कर्म का भी नहीं हो सकता। अतः यह अर्थ उपयोगी नहीं है।

134. फल का अधिकार है, पर उसे छोड़ देना है

तो फिर इस वचन का सही अर्थ क्या है? इसके लिए जरा संस्कृत के व्याकरण पर ध्यान देना होगा। यहाँ 'मा फलेषु' कहा है, 'न फलेषु' नहीं। व्याकरण के अनुसार 'मा' के बाद 'अस्ति' या 'भवति' ऐसी वर्तमानकालीन क्रिया नहीं आती। 'अस्तु' या 'भवतु' ऐसा रूप आता है। तदनुसार 'कर्मणि एव ते अधिकार: अस्तु, फलेषु मा अस्तु' इस तरह पूरा वाक्य बनता है। उसका अर्थ हुआ, 'कर्म का ही तुझे अधिकार रहे, फल का नहीं।' परन्तु व्याकरण के अनुसार यद्यपि हमने ऐसा अर्थ-शोधन किया, तो भी आखिर कहना क्या है? यह कि 'कर्म का अधिकार है, अतएव फल का भी है, लेकिन तू कर्म का अधिकार तो रख, परन्तु फल का छोड़ दे।' यह क्यों? तो गीता कहती है कि तुम्हारा तत्त्वज्ञान ही यह बताता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ। अतः यदि तुम्हें अपने अकर्तापन का अनुभव करना हो, तो तुम फल को ग्रहण मत करो।

135. नीतिशास्त्र की भूमिका : जिसका कर्म, उसी को फल

इस विषय में स्थितप्रज्ञ की तथा औरों की भूमिका में बड़ा अन्तर है। साधारण लोगों की भूमिका यह कहती है—"करूँगा तो फल के लिए करूँगा, नहीं तो कर्म ही छोड़ दूंगा। लूंगा तो फल के सहित लूंगा, छोड़ूंगा तो कर्म के सहित छोड़ूंगा।" इतना ही होता तो गनीमत थी; परन्तु कितने ही लोग तो इससे भी एक कदम आगे जाने को तैयार हैं। 'कर्म किये बिना ही फल मिल जाये तो बहुत अच्छा, नहीं मिले और कर्म किसी प्रकार टाला ही न जा सके, तो करेंगे; परन्तु फल तो किसी भी दशा में नहीं छोड़ेंगे।' इस हीन वृत्ति से ही आज का सारा संसार त्रस्त हुआ है। खुद मेहनत किये बिना दूसरों की मेहनत का फायदा कैसे उठा लें, इसकी योजना दो-चार बदमाश ही नहीं, बल्कि पूरे राष्ट्र-के-राष्ट्र बना रहे हैं।

नाजीवाद, फासिस्टवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद—इस तरह के अनेक मुफ्तखोरवाद इस हीन वृत्ति का समर्थन करने के लिए रचे गये हैं। यह बात नहीं कि यह हालत आज ही हुई हो। आज इसका जोर ज्यादा है। प्राचीन काल से लेकर आज तक यह प्रायः अखंड चली आ रही है। यही कारण है जो गीता ने सारा सोलहवाँ अध्याय इस वृत्ति का निषेध करने के लिए, उसे 'आसुरी-वृत्ति' नाम देकर रचा है। इस तरह एक कर्म करे और दूसरा उसका फल उड़ाये, ऐसी परिस्थिति समाज में होने के कारण 'जिसका कर्म, उसी का फल', इतना भी निभ जाये तो गनीमत समझिए—इस प्रकार की भूमिका नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र की है। इसलिए समाजशास्त्र और नीतिशास्त्र इस बात पर जोर देते हैं कि समाज में योग्य व्यक्ति की ही प्रतिष्ठा हो, योग्य मनुष्य को ही फल मिले। और समाज में रूढ़ हुई वृत्ति का तथा इन दो शास्त्रों के सीमित क्षेत्र का विचार किया जाये, तो उनकी यह भूमिका उचित भी है।

136. योग-बुद्धि की भूमिका उससे ऊँची : तदनुसार इस श्लोक का दूसरा अर्थ

परन्तु गीता की भूमिका इससे ऊँची है। इस कारण किसी को वह निरुपयोगी भले ही प्रतीत हो, परन्तु जैसी है वैसी ही समझ लेनी चाहिए। गीता कहती है—"कर्तापन के अभिमान से छूटने के लिए फल को अपने से अलग कर दे, ईश्वर को अर्पण कर दे, समाज को दे दे, चाहे तो शून्य में जाने दे, परन्तु तू स्वयं उसे मत ले। किसी के कहने से नहीं, बल्कि इसलिए कि तेरा तत्त्वज्ञान ही इस विषय में बाधक होता है। तेरा तत्त्वज्ञान कहता है कि आत्मा से किसी क्रिया का सम्बन्ध नहीं है। और आत्मा को क्रिया का स्पर्श न होने देने की युक्ति है फल को छोड़ देना।" यह तत्त्वज्ञान ही गीता के निष्काम कर्मयोग की बुनियाद है। बहुत-से लोग कहते हैं कि गीता के आरम्भ में यह तत्त्वज्ञान व्यर्थ डाल दिया। पहले कर्मयोग बताना चाहिए था। परन्तु यह खयाल गलत है। गीता का कर्मयोग आत्म-ज्ञान की नींव पर ही खड़ा हो सकता है। वह केवल कर्म करने के लिए नहीं कहता, बल्कि फल छोड़ने के लिए कहता है। यदि आत्मज्ञान-सम्बन्धी भाग उसमें से निकाल डालें, तो फिर फल-त्याग का तत्त्व टिक ही नहीं सकता। कर्म-त्याग पूर्णरूप से संभव नहीं; क्योंकि मैं यद्यपि आत्मस्वरूप हूँ, तथापि वर्तमान स्थिति में शरीर से घिरा हुआ हूँ। दूसरी ओर फलयुक्त कर्म हो नहीं सकता, क्योंकि 'मैं अकर्ता हूँ" यह भावना दृढ़ है। देह के कारण कर्म छूटता नहीं और हमारे अपने तत्त्वज्ञान के कारण फलयुक्त कर्म हो नहीं सकता। इस तरह इन दोनों ओर की कठिनाइयों में से गीता ने फलत्यागपूर्वक कर्म-योग की युक्ति खोज निकाली है। चाहे

तो इसे **मुरारेस् तृतीयः पंथाः** कहिए। युक्लिड के प्रमेयों में से जैसे उपप्रमेय निकलता है, ठीक उसी तरह बिलकुल तर्क-शुद्ध रीति से आत्मा के अकर्तापन में से फल-त्याग का सिद्धान्त फलित होता है। ऐसे कर्मयोग की दृष्टि से हम **या निशा सर्वभूतानाम्** इस श्लोक की ओर देख सकते हैं। इस तरह देखें तो फिर इस श्लोक का अर्थ निकलता है—"दूसरे लोग फल के प्रति जागरूक रहते हैं और अपने कर्तव्य के प्रति सोते रहते हैं; किन्तु स्थितप्रज्ञ फल के प्रति सोता है और कर्तव्य के विषय में जाग्रत रहता है।" यह इस श्लोक का दूसरा अभिप्रेत अर्थ है।

137. स्थितप्रज्ञ के लक्षणानुसार इस श्लोक का तीसरा अर्थ

(3) स्थितप्रज्ञ के लक्षणानुसार इसका एक तीसरा भी अर्थ है। वस्तुतः तीनों अर्थ मूल में समान और एक ही हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न भूमिकाओं से भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। इन्द्रियनिरोध को स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए यह सिद्ध किया है कि भोगवाद से बुद्धिनाश होता है और बुद्धि स्थिर होने के लिए संयम की आवश्यकता है। उसके अनुसार यहाँ स्थितप्रज्ञ भोगों के प्रति सोया हुआ और संयम के प्रति जागरूक और साधारण मनुष्य संयम के प्रति सोया हुआ और भोगों के विषय में जाग्रत—यह अर्थ करना उचित है।

138. गीता के श्लोक में तीनों अर्थों के संकेत

इस तरह गीता के इस रूपक द्वारा ये तीन अर्थ सूचित किये गये हैं, ऐसा समझना चाहिए। जब यह देखते हैं कि इस सूचना की कुछ ध्वनि या संकेत इस श्लोक में मिलते हैं या नहीं, तो 'पश्यन्', 'मुनि' और 'संयमी', ये तीन शब्द हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। 'पश्यन्' शब्द से सांख्यबुद्धि-निष्ठ आत्मज्ञानी, 'मुनि' शब्द से योगबुद्धि-निष्ठ कर्मयोगी और 'संयमी' शब्द से उभयबुद्धिसम्पन्न स्थितप्रज्ञ, जिसका कि प्रसंग यहाँ चल रहा है—ये अर्थ ध्यान में आते हैं। और यह निष्कर्ष निकलता है कि ये तीन अर्थ विशेष रूप से यहाँ सुझाने हैं। परन्तु इस रूपक का सामान्य अर्थ तो यह है कि स्थितप्रज्ञ और साधारण मनुष्यों की जीवन-दृष्टियाँ ही बिलकुल भिन्न होती हैं, इसलिए इन तीन विशिष्ट अर्थों को ही न लेकर कुल मिलाकर सर्व-जीवनव्यापी अर्थ भी लिया जा सकेगा और वही हमने आरम्भ में लिया भी था। गहराई से देखें तो ऐसे ही दिखायी देगा कि ये तीन विशिष्ट अर्थ भी जीवन-व्यापी हैं।

चौदहवाँ व्याख्यान

30

139. खुलासे का दूसरा सांकेतिक श्लोक : ज्ञानी समुद्र की तरह सब काम पचा जाता है

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी॥

इस श्लोक को समझ लें—'आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं समुद्रं यद्वत् आप: प्रविशन्ति, तद्वत् सर्वे कामाः यं प्रविशन्ति, सः शांतिं आप्नोति'—यह एक वाक्य है। 'न कामकामी' दूसरा वाक्य है। 'आपूर्यमाणं अपि, अचलप्रतिष्ठम्' ऐसा 'अपि' शब्द का अध्याहार करना है। 'आपूर्यमाणम्' का अर्थ है, सब तरफ से सतत भरता रहनेवाला। फिर भी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता, अपनी प्रतिष्ठा से चलित नहीं होता। "समुद्र जिस तरह चारों ओर से आनेवाला पानी अपने अन्दर समा लेता है, फिर भी अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता, उसी तरह स्थितप्रज्ञ, अनेक कामों के चारों ओर से उसके अन्दर प्रवेश करते रहने पर भी, विचलित नहीं होता, इसलिए वह शान्ति प्राप्त करता है। जो कामों के पीछे दौड़ता है, उसे शान्ति प्राप्ति नहीं होती।" यह इस श्लोक का अक्षरार्थ है। श्लोक है तो बड़ा रमणीय, परन्तु समझने में जरा कठिन है।

140. 'काम' शब्द के अर्थ की छानबीन

यहाँ पहले 'काम' के अर्थ का विचार कर लें। 'काम' शब्द का प्रयोग स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में एक जगह एकवचन में हुआ है और दूसरी जगहों पर बहुवचन में। **संगात् संजायते कामः** यहाँ 'काम' शब्द एकवचन में आया है। यहाँ काम शब्द का अर्थ है, मूल विकार। इस मूल काम से अवांतर कामनाएं उत्पन्न होती हैं। इस एकवचनी काम के लिए हिन्दी में दूसरा शब्द नहीं है, अतः वह उसी शब्द से दर्शाया जायेगा। बहुबचनी 'काम' शब्द बिलकुल शुरू में **प्रजहाति यदा कामान्** में और अन्त में **विहाय कामान् यः सर्वान्** में एक ही तरह से आया है। इन दोनों स्थानों पर उसका अर्थ 'कामना' लेना है। ये कामनाएं मनोगत होने के कारण उनका त्याग शक्य है, इष्ट है। वह अवश्य करना चाहिए, स्थितप्रज्ञ वैसा उनका त्याग कर चुका है, ऐसा कहा है। इसके अलावा दूसरे प्रकार से बहुवचनी 'काम' शब्द इसी श्लोक

में आया है। **कामाः यं प्रविशन्ति**—यहाँ काम का अर्थ मनोगत कामनाएं नहीं है। **काम्यन्ते इति कामाः**—जिसके विषय में कामना की जाये सो काम, ऐसी व्युत्पत्ति से उसका अर्थ यहाँ होता है—बाह्य विषय, उपभोग्य पदार्थ, विषय-भोग। इस अर्थ में 'काम' शब्द उपनिषद् में आया है। **ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके** अर्थात् 'जो-जो विषय-भोग इस जगत् में दुर्लभ हैं, वे सब मैं तुझे देता हूँ', ऐसा प्रलोभन यम ने नचिकेता को दिया है। इस वाक्य में 'काम' शब्द का अर्थ 'बाह्य उपभोग्य विषय' है। यही अर्थ प्रस्तुत वाक्य में भी है। कुल मिलाकर मूल विकार 'काम', मनोगत 'कामना' और तदाधारभूत बाह्य विषयों के 'भोग'—इस तरह 'काम' शब्द के तीन मुख्य अर्थ हैं। बाह्य विषयों को कामना के आधारभूत कहने का कारण यह कि उनके आश्रय से मन में वासना जाग्रत होती है। ये विषय ही मन में कामना उत्पन्न होने के लिए कारण होते हों, सो बात नहीं। वे कामना के निमित्त बनते हैं। अनेक जन्मों के पूर्व कर्म, अनेक नये और पुराने अनुभव और उनसे उत्पन्न संस्कार, ये हमारे मन की कामनाओं के मूल कारण हैं। इन्हीं के कारण इन बाह्य पदार्थों को उपभोग्यत्व अथवा विषयत्व प्राप्त होता है।

141. स्थितप्रज्ञ सब काम पचा लेता है, यह उसके ज्ञान का गौरव है

समुद्र में जिस प्रकार चारों ओर से एक-सा पानी आता रहता है, उसी प्रकार विश्व के अनन्त विषय स्थितप्रज्ञ में प्रवेश करते ही रहते हैं। आँख के सामने आँख के विषय, कान के सामने कान के विषय खड़े रहते हैं। परन्तु समुद्र जिस तरह सारे पानी को अपने स्वरूप में ग्रहण करके आत्मसात् कर लेता है, उसी तरह स्थितप्रज्ञ सारे विषयभोगों को अपने स्वरूप में मिला लेता है। आँखों को जो रूप दिखायी देगा, कानों में जो शब्द पड़ जायेगा और इसी तरह दूसरी इन्द्रियों को उनके जो-जो विषय प्राप्त होंगे, उन सबको वह आत्मस्वरूप में लवलीन कर डालता है, मन पर उनका कुछ भी संस्कार नहीं होने देता। अनुकूल और प्रतिकूल वेदना के रूप में बाह्य विषयों का असर मन पर होता रहता है। इसे मन का धर्म कहिए, विषय का कहिये या मन और विषय दोनों का कहिए, मुख्य बात यह है कि इन बाह्य विषयों को मिटाना संभव नहीं है। यदि हम यह तय करें कि हमारे संयम के लिए तमाम बाह्य विषय मिटा दिये जायें, तो फिर सारे संसार का ही लय कर देना होगा; सो संभव नहीं। उसकी जरूरत भी नहीं। बाहर के विषय इन्द्रियों द्वारा प्रवेश करते रहते हैं, तो भी स्थितप्रज्ञ के चित्त पर उनका प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी स्थिति अडोल रहती है। इस तरह यहाँ स्थितप्रज्ञ पुरुष का वैभव बताया गया है। उसे बाह्य विषयों

का त्याग नहीं करना, बल्कि हृदयस्थ कामनाओं को मिटा देना है और उन्हें वह मिटा ही चुका है। उसे किसी भी विषय से दूर रहने की जरूरत नहीं। सारे विषयों के बाजार में भी यदि उसे लाकर खड़ा कर दिया जाये, तो भी वह अपनी स्थिति से डिगता नहीं। इस पर नीतिशास्त्र हमसे पूछेगा कि क्या उसका ग्राह्याग्राह्यविवेक अथवा नीति-विचार नष्ट हो जाता है? उसका उत्तर यह है कि यह श्लोक इसलिए नहीं लिखा गया कि कौन-सा विषय ग्रहण करें और कौन-सा छोड़ें, इसका नीति-सूत्र बतायें; इसमें ज्ञान की महिमा का बखान किया गया है, ज्ञानी पुरुष का गौरव गाया गया है।

31

142. ज्ञान का गौरव और ज्ञान के स्वरूप के बीच में उसका नीति-सूत्र है

स्थितप्रज्ञ की अविचल स्थिति का दुहरा वर्णन किया जा सकता है। एक ओर उसमें अत्यन्त परिशुद्ध कर्म भी असंभव और दूसरी ओर निषिद्ध कर्म भी संभव; एक ओर सब शुभाशुभ कर्मों का संन्यास, तो दूसरी ओर सब शुभाशुभ कर्मों का योग—ऐसी दोनों सिरे की अवस्थाएं बताकर स्थितप्रज्ञ का वर्णन किया जा सकता है। एक ओर यह कहा जायेगा कि ज्ञानी कुछ भी नहीं करता, वह हाथ तक नहीं हिलाता, यहाँ तक कि अच्छे कर्म भी नहीं करता। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकेगा कि वह त्रिभुवन को आग लगा सकता है। फिर भी इन दोनों कथनों में विरोध नहीं होगा, यही उसकी भूमिका की खूबी है । विचारकों के ऐसे परस्पर-विरुद्ध प्रतिपादन में यह खूबी दिखायी देती है। उदाहरणार्थ, श्रीशंकराचार्य प्रसिद्ध मुक्तिवादी अतएव सर्वकर्म-संन्यासवादी थे। उनका कहना था कि ज्ञानी से कर्म हो ही नहीं सकता, परन्तु वही अपने भाष्य में कहते हैं, "ज्ञानी समस्त कर्मों—निषिद्ध कर्मों को भी—करके अकर्ता रहता है।" **सर्वकर्माण्यपि, निषिद्धान्यपि, कुर्वाण:।** यदि नीतिशास्त्र भाष्यकार से आग्रहपूर्वक प्रश्न करे कि क्या ज्ञानी सचमुच कोई निषिद्ध कर्म करेगा, तो वे उत्तर देंगे कि यहाँ मैं नीति-अनीति की चर्चा नहीं कर रहा हूँ, ज्ञानी का गौरव बता रहा हूँ। यदि यह पूछोगे कि ज्ञानी क्या करेगा, तो मेरी दृष्टि से वह शुद्ध अथवा शुभ कर्म भी नहीं करेगा। वह कुछ भी नहीं करता। वह हिलता-डुलता तक नहीं। परन्तु इस पर भी नीतिशास्त्र उनसे कहेगा कि आप तो ठेठ दूसरे सिरे पर जा पहुँचे। इसका उत्तर वे देंगे—"भैया, मैंने यह ज्ञानी का नीति-सूत्र नहीं बताया, उसके ज्ञान का स्वरूप बताया है।" अर्थात्

एक ओर ज्ञान का गौरव बताया और दूसरी ओर ज्ञान का स्वरूप। स्थितप्रज्ञ के ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान के गौरव के बीच में स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र रहता है।

143. बीच में, यानी कहाँ? यह समाज की भूमिका पर अवलम्बित रहेगा

बीच में यानी कहाँ? इसका निश्चित उत्तर देना कठिन होगा। समाज जैसे-जैसे ऊंची भूमिका पर चढ़ता जायेगा, वैसे-बैसे समाज के ज्ञानी मनुष्यों के विचार भी ज्यादा गहरे जाते जायेंगे। कुल मिलाकर समाज का अनुभव जैसे-जैसे बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे स्थितप्रज्ञ की प्रज्ञा भी अधिक स्पष्ट होती जायेगी। अर्थात् अनासक्ति में अक्षरशः और व्यवहारतः कौन-कौन से कर्म समा सकेंगे, इसका मापदंड भी उत्तरोत्तर भिन्न होता जायेगा। यदि पहले से आज समाज की अधिक प्रगति हुई होगी, तो पहले के स्थितप्रज्ञों की अपेक्षा आज के स्थितप्रज्ञ अधिक प्रगत होंगे। ऐसा कहना है तो बड़े साहस का काम, परन्तु विचार करने पर दिखायी देगा कि यही यथार्थ है। स्थितप्रज्ञों की भी प्रगति की यह भाषा स्थूल अर्थ में ही ग्रहण करनी चाहिए। अर्थात् वह व्यावहारिक है, आंतरिक नहीं। सब स्थितप्रज्ञों का आन्तरिक लक्षण एक ही रहेगा। उनकी आत्मस्थिति कभी भंग नहीं होगी, सदा अविचलित रहेगी, यही वह लक्षण है। उनका नीति-सूत्र यही रहेगा कि यह लक्षण डिगे नहीं इस तरह से कर्म किये जायें। उन्हें स्वयं अपने ही अनुभव से वह मालूम होता जायेगा। उसे सब लोगों के समझने लायक सुनिश्चित भाषा में हमेशा के लिए प्रकट करना असम्भव है।

144. ज्ञानी के नीति-सूत्रों के सम्बन्ध में ग्रांथिक कल्पना अनर्थकारक

अनुभव का आधार छोड़कर कल्पना से ही काम चला लेने से स्पष्टता होने के बजाय घोटाला ही होगा। इसका उदाहरण कई भक्तिमार्गी और कर्मयोगवादी लोगों के विवेचनों में मिलता है। भक्तमार्गियों ने तो यहाँ तक उड़ान भरी है कि श्रीकृष्ण को व्यभिचारी तक मान लिया। यह उनकी श्रीकृष्ण पर मेहरबानी है, जो उन्होंने उन्हें 'अलिप्त' माना है। अब कहना हो तो भले ही कहिये कि उन्होंने श्रीकृष्ण की अनासक्ति में उनका तथाकथित व्यभिचार भी समा गया मानकर अपने भक्ति-भाव की उत्कटता प्रकट की है। इसी तरह कुछ कर्मयोगवादी प्रतिपादन करते हैं कि 'सब भूतों में भगवद्भाव' रखनेवाला स्थितप्रज्ञ जबरदस्त हिंसात्मक लड़ाइयाँ भी लड़ सकता है। इसमें भी उन्होंने स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र

बताने के बजाय अपनी कल्पना का वैभव ही प्रकट किया है। एक के लिए भागवत का आधार मिल गया, तो दूसरे के लिए महाभारत का! बिना आधार के तो कोई कुछ कहता ही नहीं; परन्तु आधार होना चाहिए आज की समाजस्थिति में इस क्षण के अत्वक्ष स्वानुभव का। इस अनुभव के बल पर जो कुछ कहा जायेगा, वही यथार्थ समझा जायेगा, और वह भी इसी काल के लिए। भविष्यकाल के लिए वह बंधनकारक नहीं हो सकता। परन्तु स्थितप्रज्ञ को तीनों काल के लिए लागू पड़नेवाला जैसा आन्तरिक लक्षण हमने देखा वैसा ही यदि उसका त्रैकालिक नीति-सूत्र बताना हो, तो **या निशा सर्वभूतानाम्** इस श्लोक के अनुसार बताना होगा—अर्थात् विवेक उसका नीति- सूत्र होगा।

32

145. इस श्लोक को देखने की दूसरी दृष्टि : स्थितप्रज्ञ भावावस्था में सब शुभ देखता है

इस श्लोक के अर्थ के विषय में कुछ लोगों को तो भीति मालूम होती है और कुछ को विशेष प्रीति। नीति-निष्ठों को यह भीति मालूम होती है कि इस श्लोक में एक विचित्र नीति-सूत्र बताया गया है, जिसके अनुसार यदि स्थितप्रज्ञ चलने लगे, तो नीति ही उड़ जायेगी। दूसरी ओर कितने ही लोगों को उससे इसलिए प्रीति होती है कि एक बार स्थितप्रज्ञ हो जाने से फिर समुद्र की तरह हर बात को अपने में समा सकेंगे, आचार-व्यवहार में कोई रोकटोक नहीं रहेगी। पर वस्तुतः यहाँ न भीति के लिए कोई गुंजाइश है और न प्रीति के लिए; क्योंकि अभी देख चुके हैं कि स्थितप्रज्ञ में सब विषय-भोगों के प्रविष्ट होते हुए भी वह तटस्थ रहता है, इस कथन द्वारा स्थितप्रज्ञ के लिए कोई नीति-सूत्र नहीं, बल्कि उसकी आत्मस्थिति का गौरव बताया गया है। परन्तु इससे भी भिन्न दृष्टि से इस श्लोक की ओर देखा जा सकता है और उस दृष्टि से देखना ही यहाँ विशेषरूप से अभिप्रेत है। यह तो सत्य ही है कि इसमें स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र नहीं, बल्कि गौरव बताया गया है; परन्तु इसके अलावा भी उसमें मुख्यतः उसकी भाव-दृष्टि बतायी गयी है, ऐसा समझना चाहिए। स्थितप्रज्ञ तो एक ही है, परन्तु उसकी भूमिकाएं अलग-अलग होती हैं। एक उसकी कर्मयोग की भूमिका, दूसरी ध्यान-भूमिका। कर्मयोगवाली भूमिका का आचार-सूत्र **या निशा सर्वभूतानाम्,** इस सूत्र में बताया गया है। इसमें उसकी जाग्रत विवेक-शक्ति का वर्णन है। उसे सत् अथवा असत् का निरन्तर भान रहता है और सत् को ग्रहण करके असत् का निराकरण करना, उसके कर्मयोग-काल की भूमिका होती है। परन्तु समुद्र की उपमावाले इस श्लोक में उसका

ध्यान-योग की भूमिका का भाव बताया गया है। यहाँ उसकी भावना की व्यापकता और भव्यता का दर्शन है। उसकी विशाल और उदार दृष्टि के विस्तार में सारा विश्व समा जाता है। उसकी दृष्टि में सभी शुभ, सभी पावन, सभी मंगल दिखायी देता है।

146. शुभ + अशुभ = शुभ, क्योंकि अशुभ = 0

वस्तुतः संसार में अशुभ का कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है। अशुभ शुभ के सहारे से आता है। अशुभ अर्थात् शुभ की छाया। छाया से वस्तु का वस्तुत्व नहीं मिटता। उसमें कोई फर्क भी नहीं पड़ता। बल्कि वस्तु स्पष्ट दीखती है। सफेद कागज पर यदि बिना रंग के चित्र बनाने लगें, तो वह बन ही नहीं सकेगा। कागज कोरा का कोरा रह जायेगा। केवल शुभ अव्यक्त ही रहेगा, वह साकार नहीं होगा। ईश्वरीय योजना में शुभ को स्पष्ट दिखाने के लोभ से अशुभ का प्रादुर्भाव हुआ। मनुष्य की छाया का कुछ भी मूल्य नहीं। इस जेल में 50 कैदी हैं। उनकी पचास, सौ या डेढ़ सौ छायाएं पड़ सकती हैं; परन्तु इसलिए कोई कैदियों की 'गिनती' करते समय सौ, डेढ़ सौ, दो सौ नहीं गिनता, क्योंकि छाया की कोई सत्ता नहीं। अर्थात् वह अभावरूप ही है। अंधकार का वर्णन करते समय हम उसे 'प्रकाश का अभाव' कहते हैं, प्रकाश को अंधकार का अभाव नहीं कहते। अंधकार कोई वस्तु नहीं है, प्रकाश वस्तु है। प्रकाश को दिखाने के लिए अंधकार काम आया। अशुभ का कार्य शुभ का रूप दिखाना ही है। अतः स्थितप्रज्ञ उससे डरता नहीं। उससे उसकी वृत्ति का मांगल्य नहीं बिगड़ता। बल्कि अशुभ का शुभ पर उपकार ही हुआ, उसने शुभ को प्रकट किया, उसमें उठाव-स्पष्टता ला दी, इसी दृष्टि से वह उसे देखता है। उसकी सर्व-संग्राहक भावना को सारा शुभ-अशुभ विश्व स्वीकार्य ही लगता है, या यों कहें कि उसकी दृष्टि को शुभ-अशुभ मिलाकर शुभ ही दीखता है। गणित की भाषा में उसका दर्शन इस तरह कराया जा सकता है—शुभ+अशुभ=शुभ; क्योंकि अशुभ=0। तो फिर इस शून्य की आवश्यकता ही क्या? यह चाहिए किसलिए? इसलिए कि उसके कारण सारा गणित-शास्त्र बन पाया। शून्य की चाहे कुछ भी कीमत न हो, तो भी एक पर शून्य रखने से दस हो जाते हैं। उसकी सन्निधि में एक की प्रभा फैल जाती है। इस तरह शुभ की शोभा को निखारकर मानो अशुभ भी सुशोभित हो गया है।

147. अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण मिथ्या। केवल एक शुभ सत्य : यह है भावावस्था

ऐसा मानकर कि यह तत्त्वज्ञान तो बड़ा सुविधाजनक है, अशुभ के लोभ से जो शुभाशुभ-मिश्रण को स्वीकार कर लेंगे, वे मानो अपनी आत्महत्या ही करेंगे। अशुभ-मिश्रित शुभ भी अशुभ ही है। विष मिला अन्न भी विष ही है। अतः जो यह कहता है कि नीतिशास्त्र शुभाशुभ के मिश्रण पर खड़ा करना चाहिए, मानो उसने आत्मनाश की ही तैयारी कर ली। स्थितप्रज्ञ की दृष्टि ऐसी नहीं। वह अशुभ को शुभ के रूप में ग्रहण नहीं करता। अशुभ का मोह उसे नहीं। यह हमने देख लिया कि अपनी कृतियों में वह शुभाशुभविवेक को कभी नहीं छोड़ता; परन्तु उसकी कृति और दृष्टि में अंतर है। उसकी जगत्-विषयक दृष्टि ऐसी रहती है कि उसे जगत् में अशुभ का दर्शन ही नहीं होता। अच्छों के साथ बुरों को भी वह कहता है—"तुम सब आओ। सब मेरे ही तो हो।" यदि वे कहें कि हम तो अशुभ हैं तो वह उन्हें कहेगा—"तुम अपने को अशुभ कहते हो पर वस्तुतः अशुभ नहीं हो। कहो कि हम अशुभ नहीं हैं।" फिर भी जिनका यही आग्रह है कि 'हम तो अशुभ हैं' उन्हें वह पावन कर लेता है। उसकी पावन दृष्टि से अशुभ को शुभत्व प्राप्त हो जाता है। अशुभ भ्रम है। अशुभ की स्थिति भूत या हौवे की तरह है। शिक्षक लड़के से कहते हैं—न कहीं भूत है न हौवा। परन्तु लड़के की समझ में नहीं आता। घर आकर वह माँ से कहता है—'देख, वह हौवा दीखता है न? नहीं कैसे ?' तब माँ कहती है, अच्छा ले, मैं उसे मंत्र मराकर भगा देती हूँ। लड़का समझता है कि माँ ने हौवे को मार डाला। उसको तसल्ली हो जाती है। ज्ञानी कहता है, तुम सब शुभ हो, शुद्ध हो। तुममें कोई दोष नहीं, बिगाड़ नहीं, तुम्हें कुछ नहीं हुआ। तब भी जो कहते हैं कि हम तो खराब हैं, तो उन्हें वह कहता है—अच्छा, मैं तुम्हें मंत्र बताता हूँ, साधना बताता हूँ; परन्तु वह केवल हौवे को मार डालने भर के लिए। अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण भी मिथ्या, केवल एक शुभमात्र सत्य। जिसकी दृष्टि ही ऐसी बन गयी कि संसार में शुभ के सिवा कुछ भी नहीं है, उसे शान्ति प्राप्त होती है—यह क्या शब्द द्वारा बताने की आवश्यकता है?

पन्द्रहवाँ व्याख्यान

33

148. स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का उपसंहार : स्थितप्रज्ञ को कोई कामना नहीं, जिजीविषा नहीं।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निः स्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ।।

'सब कामना छोड़कर जो पुरुष निःस्पृह होकर विचरता है, जिसकी अहंता और ममता नष्ट हो गयी है, वह शान्तिरूप ही हो गया।' यह स्थितप्रज्ञ-प्रकरण का उपसंहार-वचन है। स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की शुरुआत कामना-त्याग से की गयी थी। यहाँ उसका उपसंहार भी कामना-त्याग से ही किया है। 'सब कामना छोड़कर जो निःस्पृह हो जाता है, उसे शान्ति मिलती है', यह अन्तिम वाक्य है। स्पृहा का अर्थ है वासना अथवा कामना। सो तो छोड़ ही चुके हैं। तब फिर से निःस्पृह कहने से क्या मतलब? सब कामनाएं छोड़ दीं यानी स्पृहा छोड़ दी। तब 'निःस्पृह' शब्द क्यों जोड़ा गया? 'जिसने सब कामनाएं छोड़ दी हैं और फिर स्पृहा भी छोड़ दी है' ऐसा कहने में पुनरुक्ति नहीं है। 'स्पृहा' द्वारा यहाँ 'मूल अभिलाषा' अर्थात् जीने की अभिलाषा बतायी गयी है। उसका विशेष उल्लेख ब्राह्मण-परिव्राजक-न्याय से किया गया है। यजमान ने ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया। भोजन के समय पूछा, "सब ब्राह्मण आ गये न?" जवाब मिला—"हाँ, सब आ गये।" फिर पूछा—"वे संन्यासी भी?" जवाब—"हाँ, वे भी आ गये।" ब्राह्मणों में संन्यासी आ ही गये; परन्तु संन्यासियों का विशेष महत्त्व होने से स्वतंत्ररूप से पृच्छा की। इसे 'ब्राह्मण-परिव्राजक-न्याय' कहते हैं। इस न्याय से यह शब्द यहाँ आया है। उसकी सब कामनाएँ छूट गयीं, ऐसा कहा तो पूछा—"सब कामनाएँ छूट गयी हैं, तो जीवन-विषयक कामना भी छूट गयी न?" उत्तर मिला—"हाँ।" विशेष रूप से उल्लेख करने का कारण यह कि अवांतर सब कामनाएं छोड़ देने पर भी जीने की वासना कायम रह सकती है। अतएव बताया कि 'वह उसे भी छोड़ चुका होता है।'

149. मुमूर्षा भी नहीं, मरण की भीति भी नहीं

'जीने की इच्छा छोड़ता है', इसका अर्थ क्या यह है कि मरने की इच्छा रखता है? नहीं। जीने की इच्छा के साथ ही मरने की इच्छा भी छोड़ देता है, यह समझना चाहिए। तो कहते हैं—क्या मरने की

भी इच्छा किसी को होती है? इसका उत्तर यह है कि कभी-कभी होती है। हम मनुष्यों को आत्महत्या करते हुए देखते हैं। स्थितप्रज्ञ जीवन से ऊबा नहीं होता। जीने की इच्छा के साथ ही वह मरने की अभिलाषा भी छोड़ देता है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि सारे जीवन ही के प्रति उसके मन में उदासीनता आ जाती है। प्रायः बूढ़े लोग कहते हैं, "अब हमें कितने दिन जीना है? दस गये, पाँच रहे।" उनके जीवन का रस सूख जाता है, अतः वे उदासीन हो जाते हैं; परन्तु स्थितप्रज्ञ की स्थिति इससे विपरीत होती है। जीवन की अभिलाषा मिट जाने से मृत्यु का भय भी मिट जाता है। तब फिर जीवन में आनन्द और खेल बाकी रहता है। उसका जीवन लीलामय हो जाता है। गीता में भक्तों के लक्षण बताते हुए आगे दसवें अध्याय में कहा है, **तुष्यन्ति च रमन्ति च**। तब वे संतुष्ट होकर क्रीडा करते रहते हैं। तुकाराम कहते हैं—

तुका म्हणे मुक्ति परिणिली नोवरी। आता दीस चारी खेळी-मेळी। —'मुक्तिरूपी वधू से विवाह हो गया है। अब चार दिन आनन्द ही आनन्द, खेलकूद ही है।' ऐसा उनका जीवन आनन्दमय होता है।

150. जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति। उसके जाते ही जीवन आनन्दमय हो जाता है।

जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति है। एक ही वस्तु के ये दो पहलू हैं। लड़ाई पर जानेवाले सैनिक सदा हँसने-खेलने में और खेल-तमाशे में मस्त रहते हैं। पास्कल कहता है—"इसका कारण यह है कि मरण उनकी आँखों के सामने प्रतिक्षण मौजूद रहता है। उसे भूलने के लिए वे आनन्द का आभास खड़ा करते हैं।" मन में जीवनाभिलाषा का, दूसरे शब्दों में, मरण-भय का काँटा चुभता रहता है। उसका दुःख भूलने के लिए हँस-खेलकर उन्मादावस्था लाने का प्रयत्न करते हैं। यों भी जीवन में ऐसा अनुभव आता है। खूब हँसने-खेलनेवाले लोग हम अकसर देखते हैं। जब हम उनके निकट परिचय में आते हैं तो मालूम होता है कि उनमें से कितने ही भीतर से दुःखी होते हैं। दुःख के उस शूल को भूलने के लिए वे जान-बूझकर हास्य-विनोद का वातावरण खड़ा करना चाहते हैं। यह सारा उद्योग मन की ग्लानि को ढांकने के लिए होता है। मनुष्य को सबसे ज्यादा चुभनेवाला शूल है—जीवनाभिलाषा। मरने तक यह चुभता ही रहता है और मरने के बाद भी पीछा नहीं छोड़ता। अतएव उसका दुःख भूलने के लिए वह भिन्न-भिन्न उत्सव और समारोह के रूप में कृत्रिम वातावरण खड़ा करने की कोशिश

करता है। परन्तु जिसने जीने की वासना ही छोड़ दी है, उसके सारे दु:ख अपने-आप मिट जाते हैं। जीवन का काँटा ही चला गया! सारी चिंता मिट गयी, जीवन शुद्ध आनन्दमय हो गया।

151. 'चरति' पद द्वारा यही सूचित किया गया है

छोटे बच्चों के जीवन में जो इतना आनन्द दिखायी देता है, उसका रहस्य भी यही है। उनको जीवन की फिक्र नहीं रहती है। इसके मूल में उनका अज्ञान होता है। पर यह बात भी पक्की है कि उन्हें किसी बात की फिक्र नहीं होती। बच्चा खेलने में मग्न रहता है, उसे खाने-पीने का भी भान नहीं रहता। उसकी भूख-प्यास माँ को लगती है। इस सबसे उसका कोई सरोकार ही नहीं। छोटे बच्चे की यह जो अज्ञानमूलक दशा है, वही स्थितप्रज्ञ की ज्ञानमूलक दशा होती है। वही यहाँ बतायी गयी है। 'चरति' शब्द की यही खूबी है। 'चरति' यानी खेलता है, कूदता है, विचरता है। उसके जीवन में दु:ख रहता ही नहीं। प्रतिज्ञा का पुनरुच्चार निगमन में किया जाता है। **प्रजहाति यदा कामान्** इत्यादि श्लोकों में की हुई प्रतिज्ञा का स्वरूप इकहरा नहीं है। मूल प्रतिज्ञा में इतना ही नहीं कहा है कि सब कामनाएं छोड़ देता है, उसके साथ ही उसका दूसरा लक्षण भी बताया गया है—आत्मा में ही संतुष्ट रहता है। प्रतिज्ञा का यह उभयविध अर्थ निगमन में भी आना चाहिए। सारी कामनाएँ छोड़ने के बाद वह अपनी आत्मा के आनन्दरूपी स्रोत में मग्न हो जाता है, यह भाव यहाँ 'चरति' शब्द द्वारा प्रदर्शित किया गया है। बाहर की वासनाएँ मिट गयीं। अब भीतर का केवल विशुद्ध आनन्द बाकी रह गया।

34

152. 'चरति' का अर्थ 'विषयान् चरति' नहीं

'चरति' शब्द का इससे एक भिन्न अर्थ बताया गया है। तिलक महाराज ने 'गीता-रहस्य' में उसका विवरण किया है। पहले एक श्लोक में 'विषयान् चरन्' ऐसे पद आये हैं। वे कहते हैं कि 'चरति' शब्द का यहाँ यही अर्थ करना चाहिए। उनके अनुसार 'चरति' का अर्थ है—संयमपूर्वक इन्द्रियों का युक्त व्यवहार करना। यह अर्थ भी अनुचित नहीं है; क्योंकि यह बात नहीं कि स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों से कुछ काम ही नहीं लेगा। आँखों से देखना, कानों से सुनना आदि उसके लिए मना नहीं है। सेवा के लिए वह यह सब काम करेगा। परन्तु ऐसा अर्थ करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ

की पूर्ण व्याख्या का निगमन है। अतः 'विषयान् चरन्' जैसा अर्थ यहाँ अपेक्षित नहीं है। फिर 'चरन्' वहाँ सकर्मक है, यहाँ 'चरति' अकर्मक है, और बिना कारण कर्म के अध्याहार की कल्पना करना उचित नहीं है।

153. 'चरति' का अर्थ आश्रम-संन्यास नहीं

दूसरा भी एक अर्थ स्मृति-वचनों के अनुसार किया जाता है। स्मृति का यह विधान है कि संन्यासी पुरुष सर्वसंगपरित्याग करके सदा विचरता रहे। उसका स्मरण 'चरति' शब्द से होता है, परन्तु स्थितप्रज्ञ के लिए कोई भी विधान करने की गीता की प्रवृत्ति नहीं। क्योंकि, उसकी ऐसी स्थिति ही नहीं रह जाती कि उसके लिए कोई विधान किया जाये। स्मृतिवाला विधान तो आश्रम-संन्यास से सम्बन्ध रखता है, वह साधकावस्था को ध्यान में लेकर ही किया है। वह विधान इस प्रकार है—अनेक प्रकार का अनुभव प्राप्त कर चुके हुए साधक को अनासक्त रहना चाहिए, वह एक जगह रहकर आसक्ति में न पड़े, सतत घूमता रहे, इससे परिग्रह नहीं जमा हो पायेगा। परन्तु स्थितप्रज्ञ के लिए ऐसा विधान कौन करेगा? उसे ऐसे विधान की जरूरत भी क्या है? वह अपना विधान स्वयं ही जानता है। यदि यह मानें कि यह विधान नहीं, वर्णन है, तो ज्ञानी पुरुष का स्थूल चरित्र वर्णन करने की प्रवृत्ति गीता में कहीं नहीं पायी जाती। ऐसे स्थूल चरित्र की कल्पना भी गीता ने नहीं की है। तो भी यदि 'चरति' शब्द से संन्यासाश्रम-सम्बन्धी स्मृति-वचन का स्मरण होता है, ऐसा कोई कहे और लिंग (चिह्न) के तौर पर उसका उपयोग करे, तो हमें आपत्ति नहीं है। परन्तु उसका ऐसा शाब्दिक अर्थ हम यहाँ हरगिज नहीं लेने देंगे।

154. 'चरति' यानी विहार करता है। ज्ञानदेव की भाषा में 'विचरे विश्व होउनी। विश्वामाजीं'

यहाँ की तरह आगे भक्त-लक्षणों में **अनिकेतः स्थिरमतिः** ऐसा एक लक्षण बताया गया है। उसका भी अक्षरार्थ ऐसा हो सकता है कि 'उसका कहीं भी घर नहीं होता।' अर्थात् वह 'सतत घूमता रहता है।' परन्तु इस अर्थ को पचाकर ज्ञानदेव ने उसमें से नयी और सुन्दर निष्पत्ति की है—

वायूसि एके ठायीं। बिढार जैसें नाहीं
तैसा न धरी चि कहीं। आश्रयो जो॥
हें विश्वचि माझें घर। ऐसी मति जयाची स्थिर॥
किंबहुना चराचर। आपण जाला॥

('जैसे वायु का कहीं एक जगह डेरा नहीं होता वैसे जो कहीं भी आश्रय लेकर नहीं रहता, जिसकी यह मति स्थिर हो गयी कि सारा विश्व ही मेरा घर है, बल्कि जो खुद ही चराचररूप हो गया।') सारा विश्व ही उसका घर हो गया। वह बे-घर का नहीं रहा! ऐसी ही विचारशीलता ज्ञानदेव ने इस जगह भी अर्थ करने में दिखायी है। 'चरति' शब्द का अर्थ यहाँ उन्होंने किया है, **'बिचर विश्व होकर। विश्वमध्य।'** (खुद विश्व बनकर विश्व में विचरण करता है।) अक्षरार्थ भी न छूटने पाये, उसका बोझ भी न पड़ने पाये—ऐसी कुशलता से भाष्य करने की कला ज्ञानदेव ने यहाँ दिखायी है। संस्कृत में ज्ञानी पुरुष के संचार के लिए 'विहार' शब्द है। हमारे देश में भी पूर्व में एक विहार यानी बिहार प्रान्त है। किसी ज्ञानी पुरुष के विहार के स्मारक के रूप में एक सारे प्रान्त का नाम ही 'बिहार' रख देने का ऐसा उदाहरण बहुत कम मिलता है। बुद्ध के विहार की स्मृति के रूप में हमारे धर्म-प्राण पूर्वजों ने इस प्रान्त का नाम 'बिहार' रख दिया। 'विहार' का अर्थ है सहज आनन्द से सैर करना, क्रीडा करना, खेलना, विचरना। यही अर्थ यहाँ 'चरति' शब्द द्वारा अभिप्रेत है। समस्त कामनाओं का और जीवन-स्पृहा का भी निरास हो जाने के बाद जीवन एक विहार अथवा क्रीड़ा ही बन जाता है।

155. कामना और जीवनाभिलाषा छूटने पर अब शरीर बाकी रहा, सो केवल उपकारार्थ। 'निर्ममो निरहंकारः' पद से यही भाव सूचित किया है

परन्तु तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिसकी जीवनाभिलाषा ही बाकी नहीं रही परन्तु शरीर तो शेष है, उसके लिए अब क्या कार्य रहा? तत्वज्ञान में यह प्रश्न हमेशा खड़ा होता है। क्योंकि, यह सिद्धांत है कि बिना कार्य के कोई भी वस्तु नहीं रह सकती। उसका उत्तर तुकाराम ने दिया है—**तुका म्हणे आता। उरलों उपकारापुरतां।** (तुकाराम कहते हैं कि अब मैं उपकार के लिए ही रह गया हूँ।) स्थितप्रज्ञ की स्थिति ऐसी होती है कि वह विश्वमय हो जाता है, 'मैं' और 'मेरा' यह भाषा ही वहाँ नहीं रहती। वह लोगों से कहता है—"अब न मैं हूँ, न मेरा है, जो कुछ है सो तुम और तुम्हारा। तुम अपना सम्भालो"। यही अर्थ अगले चरण में समाविष्ट है। **निर्ममो निरहंकारः**—वह सब भूतों पर उपकार करने के लिए ही जीता है। परन्तु उसके शरीर के लिए सामाजिक कार्य रहा हो, तो भी उसको खुद को कोई सामाजिक कामना नहीं रहती। यह न समझ लें कि उसकी व्यक्तिगत कामना मिटकर सामाजिक कामना बाकी रहती है। 'सर्व कामना' में सामाजिक कामनाएं भी आ गयीं। उन्हें भी वह छोड़ देता है। तो फिर

उससे सामाजिक कार्य कैसे होते हैं? उसकी साधकावस्था के और सामाजिक आवश्यकता के प्रवाह से वे उसके द्वारा होते हैं। साधकावस्था की प्रेरणाएँ उसके स्वभाव में घुल-मिलकर उसके अंगरूप बन जाती हैं और दूसरी तरफ समाज की आवश्यकता का प्रवाह तो सतत बहता ही रहता है। ये उससे काम करवा लेते हैं। इस तरह वह महज प्रवाह-पतित होता है। जिसकी ऐसी स्थिति हो, उसे शान्ति प्राप्त हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। शान्ति पर अधिकार उसी का है, क्योंकि अशान्ति के सब कारण उसके जीवन से उड़ गये हैं। अहंता-ममता गयी, शुभाशुभ-कामना गयी, जीवनस्पृहा गयी, अब अशान्ति किस बात से रहे? अब तो शान्ति ही शान्ति बाकी रह गयी।

35

156. पूर्वोक्त भावावस्था और क्रियावस्था से भिन्न स्थितप्रज्ञ की यह ज्ञानावस्था केवल अवर्णनीय

पिछले श्लोक में स्थितप्रज्ञ की भावावस्था का वर्णन किया गया। यहाँ ज्ञानावस्था बतायी गयी है। यह मानो उस भावावस्था के वर्णन से बिलकुल विपरीत दिखायी देती है। वहाँ शुभ और अशुभ सभी कामनाओं का प्रवेश है, यहाँ दोनों के लिए दरवाजा बन्द है। ज्ञानावस्था में स्थितप्रज्ञ शुभ-अशुभ दोनों के परे चला जाता है। वहाँ कोई द्वंद्व बाकी नहीं रहता। वहाँ न सृष्टि है, न दृष्टि। न ब्रह्मांड है, न पिंड। न यह है, न वह। न नाम, न रूप। न गुण, न कर्म। न जाति, न व्यक्ति। न सामान्य, न विशेष। न इन्द्रियाँ, न मन। न बुद्धि, न अहंकार। तो फिर है क्या? यह कहने का साधन नहीं, क्योंकि वहाँ वाणी ही खतम हो जाती है। जहाँ वाणी शेष रहती है, वहाँ वह अवस्था नहीं। यह कहें कि वहाँ स्वानुभूति है, तो वह भी निरर्थक ही होगा। उसे शून्य भी नहीं कह सकते; अशून्य भी वह नहीं; परन्तु इतना तो निश्चित है कि कुछ है सही। वहाँ भावावस्था का भाव खतम हो जाता है। क्रियावस्था की क्रिया लुप्त हो जाती है। इससे अधिक उस अवस्था का वर्णन करना अनावश्यक है, क्योंकि इतने वर्णन से भी उस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ा है।

157. भावावस्था में समग्रता है

परन्तु भावावस्था में स्थितप्रज्ञ की भूमिका सम्पूर्ण विश्वरूप भगवान् को मान्य करने की होती है। उस समय उसकी भावना में समग्रता होती है। वहाँ विश्लेषण नहीं। किसी सुन्दर मूर्ति की नाक काटकर कोई ले आये और पूछने लगे कि क्या यह सुन्दर है, तो मैं कहूँगा कि सारी मूर्ति सुन्दर थी। उसके टुकड़े कर देने से टुकड़ों में सुन्दरता नहीं रहेगी, समग्रता में सुन्दरता है। यह सारा विश्व शुभ और अशुभ मिलाकर मंगलरूप है। विश्वरूप में मिलकर लीन होने की, विश्वरूप का आदर करने की, पूजने की, उसे सारा-का-सारा निगल जाने की यह भूमिका है। 'पूज कर देव देखो ।'—मूर्ति की पूजा करके फिर उसे देखोगे, तो वह सुन्दर दिखायी देगी। 'बीज बोकर खेत देखो'— बिना बोये खेत पर जाओगे तो वहाँ घास-ही-घास दिखायी देगी। अपनी पवित्र भावना की चादर दुनिया पर डालकर फिर उसकी ओर देखो, तो वह परम पवित्र दिखायी देगा। माँ अपने बच्चे को प्रेम से सजाती है, गहने-कपड़े पहनाती है। अतः वह उसको सुन्दर दिखायी देता है। इस तरह आत्मभावना से विश्व को सजाओ, चमकाओ, मंडित करो, आच्छादित करो और फिर देखो। आत्मीयता के कारण वह सुन्दर और प्रिय दिखायी देगा।

158. क्रियावस्था में विवेक है

इन दोनों से भिन्न विवेक-प्रधान क्रियावस्था **या निशा सर्वभूतानाम्** श्लोक में बतायी गयी है, वह हमने देख ही ली है। वहाँ शुभ बनाम अशुभ है। निष्कामता बनाम सकामता, अकर्तृत्व बनाम कर्तृत्व, संयम बनाम स्वच्छंदता, सत् बनाम असत्, प्रकाश बनाम अंधकार, ऐसा वहाँ झगड़ा है।

159. तीनों अवस्थाएं मिलकर स्थितप्रज्ञ की एक ही अखंड वृत्ति

ज्ञानी पुरुष को शरीर की दृष्टि से भिन्न-भिन्न समय में ये तीन अवस्थाएं प्राप्त होती हैं। उसकी वृत्ति की अखण्डता को बाधा पहुँचाए बिना ये आती हैं और जाती हैं। वास्तव में यह भाषा ही ठीक नहीं है कि उसमें 'वृत्ति' रहती है। उसमें सचमुच कोई 'वृत्ति' नहीं रहती।

करणें कां न करणें। हें आघवें तो चि जाणें।
विश्व चळतसे जेणें। परमात्मेनि॥

(जिस परमात्मा से यह विश्व संचालित होता है, वही अकेला जानता है कि क्या करें, क्या न करें।) ऐसी उसकी स्थिति होती है। भगवान् को उससे जो काम कराना मंजूर होता है, समाज को जैसी आवश्यकता होती है, वैसा काम उससे हो जाता है। वह स्वयं-प्रवृत्ति से कुछ भी नहीं करता। **मोहरी, कांदां, ऊस। एक वाफा भिन्न रस। उदका नेलें तिकड़े जावें।** पानी उधर जाता है, जिधर माली उसे ले जाता है। यदि गन्ने की तरफ ले गया तो वह उसकी मिठास बढ़ा देता है, राई की तरफ ले गया तो उसकी तेजी बढ़ा देगा। प्याज की क्यारी में ले गया तो उसकी गंध बढ़ा देगा। पानी खुद अपना कोई अभिमान नहीं रखता। स्थितप्रज्ञ का ऐसा आग्रह नहीं होता कि अमुक करूँगा, अमुक नहीं करूँगा; अथवा कुछ-न-कुछ तो करूँगा ही या कुछ भी नहीं करूँगा। ईश्वर को उससे जो कुछ कराना मंजूर होगा, वह करा लेगा। उसकी अपनी कोई प्रवृत्ति बाकी नहीं रही। अतः उसकी स्थिति के लिए 'निवृत्ति' शब्द ही ठीक है; परन्तु यदि 'वृत्ति' शब्द का ही आग्रह हो तो उसे 'अखंड वृत्ति' कहिए। शरीर की दृष्टि से क्रियावस्था, भावावस्था और ज्ञानावस्था उसे प्राप्त होती है, परन्तु इन तीनों भूमिकाओं में विरोध नहीं है। इस कारण उसकी अखंड वृत्ति में अन्तर नहीं आता। क्रिया के समय वह सज्जन और दुर्जन का विवेक रखेगा। भावावस्था में सबका संग्रह करेगा। ज्ञानावस्था में कहेगा— मेरा कोई नहीं। इस तरह उसकी तीन भूमिकाएँ होती हैं। इन तीन भूमिकाओं को मैं स्थितप्रज्ञ की त्रिसूत्री कहता हूँ। इस त्रिसूत्री का आधारभूत जो महान् प्रमेय है, उसकी चर्चा आगे करेंगे।

६. विवरणाधिकरणम्

सोलहवाँ व्याख्यान

36

160. स्थितप्रज्ञ की तिहरी अवस्था के मूल में ईश्वर का त्रिविध स्वरूप

स्थितप्रज्ञ की जो अवस्था हमने देखी, उसे स्थूल अर्थ में ईश्वर की ही अवस्था समझना चाहिए। उसकी जो तिहरी अवस्था होती है, उसका कारण भी यही है कि ईश्वर का स्वरूप त्रिविध है। स्थितप्रज्ञ की भूमिका की वही आधारभूत नींव है। ईश्वर को किसी ने देखा नहीं— और ऐसे देखें तो मनुष्य को भी किसी ने नहीं देखा। मनुष्य का बाह्य रूप प्रकट है। वैसे ही ईश्वर का भी बाह्य रूप प्रकट है। मनुष्य का अंत:स्वरूप ईश्वर के अंत:स्वरूप की तरह ही अप्रकट है। मनुष्य का प्रकट रूप छोटा-सा है, इसलिए वह ज्ञात-सा प्रतीत होता है; किन्तु ईश्वर का तो प्रकट रूप यह अपरम्पार सृष्टि ही है। अत: वह अज्ञात-सा प्रतीत होता है। वास्तव में मनुष्य और ईश्वर दोनों एक-से ही प्रकट या अप्रकट हैं। परन्तु जैसे मनुष्य को जानने का साधन है, वैसे ही ईश्वर को भी जानने का साधन हमें उपलब्ध है। वह साधन है स्थितप्रज्ञ। जब तक ऐसे स्थितप्रज्ञ सब जगह, सब समय मिलते हैं, तब तक यह कहना अनुचित न होगा कि ईश्वर को जानने का साधन हमारे पास है। अत: स्थितप्रज्ञ को मूर्तिमान और एक छोटा-सा ईश्वर ही मान सकते हैं। स्थितप्रज्ञ की तीन भूमिकाएँ ईश्वर के तीन स्वरूपों के अनुसार हैं। इन तीनों रूपों को मिलाकर उसका परिपूर्ण स्वरूप बनता है। जितना कुछ हमारी कल्पना में आता है और जो नहीं आता, वह सब उसके उदर में समा जाता है।

161. ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ

ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ है। वह मनुष्य की आकांक्षा में दिखायी देता है। मनुष्य में सदा शुभ की आकांक्षा रहती है। अशुभ करनेवाले की भी आकांक्षा शुभ की ही होती है। असत्यवादी भी नहीं चाहता कि कोई उसे धोखा दे। हिंसक मनुष्य भी नहीं चाहता कि कोई उसे मार डाले। मनुष्य-हृदय की इस शुभविषयक आकांक्षा में से ही नीति-शास्त्र का जन्म हुआ है। हो सकता है कि 'शुभ क्या है', इसका निर्णय कभी-कभी कठिन मालूम हो; परन्तु शुभ जैसी वस्तु है अवश्य और वही मनुष्य को प्रिय है। दैवी

सम्पत्ति के सद्गुण बताकर भगवान् ने अर्जुन से जो कहा कि 'तेरा जन्म दैवी सम्पत्ति में ही हुआ है' सो वह आश्वासन केवल अर्जुन को ही नहीं, बल्कि सारी मनुष्य-जाति को दिया हुआ है। यह सच है कि मनुष्य में दोष भी दिखायी देते हैं; परन्तु वह तो मानव के अन्दर का पशुत्व है, मानवत्व नहीं। मानवत्व शुभ है, शुभाकांक्षी है, शुभ की ओर अग्रसर है। डसका हृदय-स्थान शुभ का बना है। **हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति** का अर्थ यही है।

162. दूसरा, विश्वरूप

ईश्वर का दूसरा रूप यह विश्वरूप है। वह परिपूर्ण है। उसमें शुभ-अशुभ सब कुछ आ जाता है। संतरे के फल में बीज, खूजा, छिलका, सब कुछ आ जाता है। मीठा, खट्टा, कसैला— तीनों रस आ जाते हैं। यह सब मिलकर संतरा बना है। इन सबको मिलाकर हमसे पूछे कि संतरा कैसा है, तो हम कहेंगे, 'बढ़िया, मीठा, स्वादिष्ट।' बीज, खूजा या छिलके का खानेवाले के लिए कोई महत्त्व नहीं। तो भी ये सब फल के रस के पोषक हैं। मनुष्य की दृष्टि से ये सब गौण हो सकते हैं; परन्तु उनसे संतरे में वैगुण्य नहीं आता। 'मनुष्य की दृष्टि से' इसलिए कहा कि फल की परिभाषा में बीज ही मुख्य कहा जायेगा। परन्तु दृष्टान्त में केवल सार ही ग्रहण करना चाहिए। कुल मिलाकर जगत् शुभ है; संतरे की तरह मधुर है। उसमें जो अशुभ प्रतीत होता है, वह शुभ की शोभा बढ़ानेवाला है। वह शुभ की छायारूप है। उन सबको मिलाकर यह सारा विश्वरूप सुसज्जित है। कभी उससे भय मालूम होता है, तो कभी उसके प्रति आकर्षण। ग्यारहवें अध्याय में वर्णन है कि अर्जुन को उससे भय मालूम हुआ। भागवत में कहा है कि प्रह्लाद को उसे देखकर प्रेम और भक्ति उमड़ी। वह समुद्र और हिमालय की तरह रमणीय-भयानक है, आकर्षक है और विकर्षक भी। इसी लिए शिव के द्विविध स्वरूप का वर्णन किया जाता है—'मंगल और घोर', 'सौम्य और रुद्र'। दोनों प्रकार के शिवरूप हैं; परन्तु दोनों को मिलाकर वह है तो शिव ही।

163. तीसरा, शुभाशुभ से परे ब्रह्म-संज्ञित

ईश्वर का तीसरा रूप शुभाशुभ से परे है। सृष्टि से परे, बुद्धि से परे और आकांक्षाओं से परे; परन्तु वह सबके परे होते हुए भी सबके लिए आधाररूप है। उसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता। वह शुभ

भी नहीं, अशुभ भी नहीं, ऐसा नकारात्मक वर्णन ही उसका किया जा सकता है। हंकारसूचक भाषा में इतना ही कहा जा सकता है कि वह 'है'। बाकी सब नेति-नति! वेदान्त में उसे 'ब्रह्म' संज्ञा दी है।

164. गीता की परिभाषा में 'सत्', 'सदसत्', 'न सत् नासत्'

गीता में ईश्वर का यह तिहरा रूप भिन्न-भिन्न स्थानों में बताया गया है। इसमें पहला 'मानवीय आकांक्षाओं का रूप' है, जो केवल शुभ है। भक्तों ने इसे चतुर्भुज माना है। यह रूप मानवीय आकांक्षाओं के अनुरूप है, अतः वास्तव में मानवीय है। परन्तु मानव के प्रत्यक्ष जीवन में वह पूर्णतया प्रकट नहीं होता, इसलिए उसमें दो हाथ और जोड़कर चतुर्भुज बनाया। परमेश्वर के खालिस, शुद्ध, शुभ, मंगल रूप को अपने हृदय में अनुभव करना चतुर्भुज रूप का दर्शन करना है। गीता में इसे 'सत्' कहा है। **ॐ तत् सत्** में जो सत् है, सो यही। उसका चित्र चतुर्भुज है, चरित्र नीतियुक्त है, नाम सत् है। दूसरा है विश्वरूप, जो ग्यारहवें अध्याय में मिलता है। उसमें शुभाशुभ का समावेश होता है। समग्रता और परिपूर्णता यह इस रूप की विशेषता है। इसे गीता में 'सदसत्' यह शास्त्रीय नाम दिया गया है। **सदसच्चाहमर्जुन** इस वचन में इसी विश्वरूप का वर्णन है। तीसरा रूप गुणातीत है। उसमें न आकार है, न विकार, न प्रकार, परन्तु वह सर्वाधार है। गीता ने उसका शास्त्रीय नाम **न सत् तत् नासद् (उच्यते)** रखा है। तेरहवें से लेकर पन्द्रहवें अध्याय तक गीता में उसका विस्तार किया गया है।

165. तर्क से सदसत् की चार कोटियां हो सकती हैं, उनमें से तीन ही ईश्वर पर चरितार्थ होती हैं

इस तरह ईश्वर के तीन रूप और उनके अनुसार स्थितप्रज्ञ की तीन अवस्थाएं होती हैं। तर्क द्वारा विचार करने से सदसत् की कुल चार कोटियां संभव हैं। (1) केवल सत्, (2) केवल असत्, (3) सदसत्, (4) न सत् नासत्। परन्तु तर्क से यद्यपि चार कोटियां होती हैं, तो भी इनमें तीन ही ईश्वर पर लागू हो सकती हैं। केवल 'असत्' कोटि ईश्वर पर चरितार्थ नहीं होती, वह शैतान पर लागू होती है। ईश्वर का चौथा स्वरूप नहीं है। अतः स्थितप्रज्ञ की भी चौथी अवस्था नहीं है।

166. ईश्वर का और तदनुसार स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह त्रिविध स्वरूप 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये' श्लोक में सूचित है

इसी अर्थ को सूचित करनेवाला एक श्लोक नौवें अध्याय में आया है। 'सूचित करनेवाला' मैंने जानबूझकर कहा है; क्योंकि उसका अर्थ सरल नहीं है। महाभारत में व्यासजी के जो खास श्लोक हैं, उनमें वह एक है। तो भी भाष्यकारों ने अपने-अपने ढंग से उसका अर्थ खोला है। मेरी दृष्टि से उसमें से वही आशय निकलता है, जिसका हम यहाँ विवेचन कर रहे हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

(9.15)

यह है वह श्लोक। इसका शाब्दिक अर्थ है—"ज्ञान-यज्ञ द्वारा यजन करनेवाले एकत्व से, पृथक्त्व से और बहुरूप से मेरे व्यापक स्वरूप का यजन करते हैं।" एकत्व से, पृथक्त्व से और बहुधा यजन करनेवाले—ये तीन अलग-अलग ज्ञानी नहीं हैं, बल्कि एक ही ज्ञानी तीन भूमिकाओं से तीन प्रकार की उपासना करता है। **न सत् तत् नासद् उच्यते**-ऐसे निर्गुण ब्रह्मत्त्व का अद्वैतमय अनुभव यानी एकत्व से यजन। 'ईश्वर केवल सत् है असत् नहीं'—ऐसी भूमिका से उपासना पृथक्त्व से किया गया यजन है। और 'सत्-असत् मिलाकर सारा जीवन एक है'—ऐसी भूमिका से की गयी उपासना बहुधा यजन है।

167. इसी का और अधिक स्पष्टीकरण

ये तीनों भूमिकाएं एक ही ज्ञानी पुरुष की होती हैं। क्रियावस्था में वह ईश्वर को केवल सत्स्वरूप देखता है। उस समय उसकी पृथक्त्व की, अर्थात् विवेक की, भूमिका रहती है। 'पृथक्त्वेन' का अर्थ कुछ लोग करते हैं, ईश्वर में और अपने में मिन्नता मानकर भेद-भूमिका से की गयी उपासना। परन्तु वह ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ सामान्य भक्ति का वर्णन न होकर ज्ञान-यज्ञ का वर्णन है। भक्ति का वर्णन इसके पहले ही **सततं कीर्तयन्तो माम्** इस श्लोक में हो चुका है। उसमें जितना चाहिए, द्वैत मान लेने की भरपूर सुविधा है; किन्तु यहाँ द्वैत-भक्ति की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह ज्ञान-यज्ञ है। यहाँ पृथक्त्व से उपासना का 'सद्सद्विवेक' ही अर्थ करना उचित है। बहुधा का अर्थ है, शुभ और अशुभ स्वरूप में अनन्त रूपों से ईश्वर सुसज्जित है, ऐसी भूमिका की उपासना। यह स्थितप्रज्ञ की

भावावस्था की उपासना है। इसमें उसकी सबके प्रति अविरोध-वृत्ति सूचित की गयी है। इस श्लोक का ऐसा अर्थ करना गीता में वर्णित ईश्वर के त्रिविध स्वरूप से मेल खाता है।

168. बाह्य जीवनाकार में भेद दिखायी देने पर भी सभी स्थितप्रज्ञों को तीनों अवस्थाओं का अनुभव होता है

सभी स्थितप्रज्ञों के जीवन में ये तीनों भूमिकाएं रहती हैं; परन्तु उनमें भी किसी के जीवन में क्रियावस्था प्रधान रहती है, तो किसी में भावावस्था और किसी में ज्ञानावस्था। उसके अनुसार उनके बाह्य जीवनाकार में भी अन्तर दिखायी देगा। परन्तु किसी भी स्थितप्रज्ञ को इनमें से सिर्फ एक ही भूमिका का नहीं, बल्कि तीनों का अनुभव रहता है और तीनों अवस्थाओं में जो सर्वमान्य अखण्ड अनुभव होता है, वह भी एक ही है। तो भी प्रधानता के कारण बाह्य जीवन में फर्क होता है। इससे लोगों को भिन्न-भिन्न ज्ञानियों में तुलना करने का भी मोह हो जाता है और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कोई किसी को श्रेष्ठ भी कह लेता है। परन्तु वास्तव में यह मोह ही है। बाहरी आकार कुछ भी हो, तो भी जब तक भीतरी प्रकार एक ही है, तब तक वास्तव में कोई अन्तर नहीं होता। पाँच रुपये का नोट हो तो क्या और पाँच रूपये का सिक्का हुआ तो कया, कीमत दोनों की बराबर ही है, फर्क सिर्फ आकार का रहा। परन्तु किसी भी भूमिका का प्राधान्य हो, स्थितप्रज्ञ से जो लोकसंग्रह होता है, वह समान ही रहेगा। लोकसंग्रह उसके आत्मज्ञान से ही होता है। प्रधानता किसी भी अवस्था की हो, तो भी उस आत्मज्ञान में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

38

169. ये अवस्थाएं परस्पर-संबद्ध, परस्पर-उपकारक ही हैं

यहाँ एक प्रश्न और रह जाता है। स्थितप्रज्ञ की इन तीनों अवस्थाओं का कहीं योग भी है या नहीं? जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति—मनुष्य की ये तीन अवस्थाएं जैसे एक-दूसरी से बिलकुल अलग हैं, वैसी ही कया ये अवस्थाएं बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं? मनुष्य जब नींद लेता है तो जागृति नहीं रहती और जागृति में नींद नहीं होती और स्वप्न में दोनों नहीं रहतीं। वैसी ही स्थिति क्या स्थितप्रज्ञ की क्रियावस्था, भावावस्था और ज्ञानावस्था की है, या इनमें कोई परस्परसंबंध भी है? इसका उत्तर यह है कि जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति

का उदाहरण यहाँ लागू नहीं होता, क्योंकि जागृति इत्यादि तो सामान्य मनुष्य की तरह ज्ञानी को भी होती है, परन्तु जिन तीन अवस्थाओं की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं वे तो ज्ञानी पुरुष की जागृति-काल की हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो निद्रादि-अवस्थाएं भी बिलकुल असंबद्ध नहीं हैं। नींद का जागृति पर और जागृति का नींद पर काफी परिणाम होता है। यदि नींद अच्छी आयी हो, तो जागृति भी अच्छी रहेगी और जागृति में यदि डटकर काम किया हो, तो नींद भी अच्छी आती है। इसी तरह स्वप्न का भी जागृति पर और जागृति का स्वप्न पर परिणाम हुए बिना नहीं रहता। और ज्ञानी पुरुष की तो जागृति-काल की ही ये तीन अवस्थाएं हैं। अतः इन तीनों का प्रभाव एक-दूसरी पर पड़ना ही चाहिए। यह असंभव है कि एक अवस्था में रहते हुए वह दूसरी अवस्थाओं की भूमिका से बिलकुल अछूता बना रहे।

170. इस विषय में सनातनियों की तर्क-प्रणाली भ्रमपूर्ण है

यह चर्चा यहाँ इसलिए छेड़ी कि "ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, चांडाल—ये सब पंडित की दृष्टि में एक-से होते हैं" इस गीता-वचन पर कुछ वेदांती कहते हैं कि "यह वाक्य भावावस्था का है। यह क्रियावस्था पर लागू नहीं होता। भावावस्था में सबको एक-सा मानने पर भी क्रियावस्था में विवेक रखना ही पड़ता है। इस स्थूल विवेक के आश्रय से गाय के साथ गाय की तरह और मनुष्य के साथ मनुष्य की तरह व्यवहार करना पड़ता है। स्थितप्रज्ञ पागल तो है नहीं। भावावस्था के अद्वैत के आधार पर क्रियावस्था का भेद न मानना मानो बड़ की छाल पीपल पर चिपकाने जैसा है।" इस तर्क-प्रणाली का आधार लेकर सनातनी कहते हैं—"हम ब्राह्मण और हरिजन में भेदभाव करते हैं ऐसा आप मानते हैं, लेकिन दरअसल वह भेद नहीं, विवेक है। अभेद का विरोध भेद से हो सकता है, विवेक से नहीं हो सकता।" उनका यह कथन विचारणीय है। यह कहना तो बुद्धियुक्त है कि एक विशेष भूमिका में एक विशेष अवस्था रहेगी। परन्तु इसमें जो यह माना गया है कि इन अवस्थाओं में परस्पर संबंध नहीं है सो ठीक नहीं है। भावना का प्रभाव क्रिया पर, क्रिया का भावना पर और ज्ञान का दोनों पर अवश्य होता है। ज्ञान और भाव अकिंचित्कर—न कुछ-नहीं है। वे ऐसी दियासलाई की डिबिया की तरह नहीं कि जब चाहा जेब में रख लिया और जब चाहा उपयोग किया। वे जीवन में घुले-मिले होते हैं।

171. क्रियावस्था पर भावावस्था का प्रभाव : सोने की अंगूठी और सभा के अध्यक्ष का दृष्टांत

उदाहरण के लिए पहले हम क्रियावस्था और भावावस्था की तुलना करेंगे। विचार करने पर ऐसा दिखायी देगा कि क्रियावस्था पर भी, उस भूमिका के विवेक की रक्षा करते हुए, भावावस्था का प्रभाव पड़ना ही चाहिए। मुझे सोना अँगुलियों में पहनना है तो चाहे जिस आकार का सोना नहीं चलेगा। वह अँगूठी के आकार का ही होना चाहिए। वैसे आकार का न होगा, तो मेरा काम नहीं चलेगा। अतः मैं उसे नहीं लूँगा। परन्तु उसका आकार भिन्न है, इसलिए मैं उसे फेंक भी नहीं दूंगा। क्योंकि मैं सोने की कीमत जानता हूँ। भावावस्था में मुझे यह दर्शन हुआ है। यह सारा शुभ-अशुभ जगत् ब्रह्मस्वरूप है, खालिस सोना है। सज्जनों की एक सभा के लिए सभापति की जरूरत है, तो उस समय स्थितप्रज्ञ किसी साधु पुरुष को ही उस पद के लिए चुनेगा। दुर्जन को नहीं पसंद करेगा। परन्तु ऐसा करते हुए वह दुर्जन के प्रति तिरस्कार-भाव नहीं रखेगा। दुर्जन भी तो एक आकार में परमेश्वर ही है। सज्जन दूसरे आकार में परमेश्वर है। सज्जनों की सभा के लिए सज्जनों के आकारवाला ही परमेश्वर उचित है, इसलिए उसे चुना इतना ही। क्रियावस्था में ज्ञानी पुरुष इस तरह बरतता है, तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह भेद-भाव रखता है। भीतरी एकता को पहचानकर वह बाहरी व्यवहार में विवेक से काम लेता है। बाह्य व्यवहार के आकार में फर्क करते हुए वह इतनी चिन्ता रखता है कि भीतरी अभेद-भाव सुरक्षित रहे। वह समदृष्टि से देखता है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह प्लेग और क्षय, दोनों में एक ही दवा देगा। क्रियावस्था में उसे आकार देखकर चलना पड़ता है; परन्तु भावावस्था का अनुभव उसे बताता है कि विवेक से काम लेते हुए भी यह भूलना नहीं है कि यह सब कुछ ब्रह्म-रूप है। किसी का भी अनादर करना ठीक नहीं। सबके प्रति आदर-भाव रखना चाहिए।

172. भावावस्था पर क्रियावस्था का प्रभाव : कुष्ठरोगी-सेवा का दृष्टांत

एक अवस्था का अनुभव और ज्ञान दूसरी अवस्था में भूला नहीं जाता। व्यवहार में भी हम ऐसा ही देखते हैं। मनुष्य बिलकुल एकांतिक भूमिका में नहीं रह सकता। एक विनोदी मित्र एक मजेदार बात सुनाया करते हैं। गणित के एक प्रोफेसर घूमने निकले। रास्ते में एक शख्स ने पूछा कि स्टेशन कहां है? प्रोफेसर महाशय ने उत्तर दिया कि भूगोल मेरा विषय नहीं है। प्रोफेसर साहब का खयाल था कि गणित के प्रोफेसर से भूगोल के ज्ञान का क्या वास्ता! यह सच है कि भावावस्था की सब भावनाएँ क्रियावस्था

पर लागू नहीं होतीं, तो भी क्रियावस्था में भावावस्था के तत्त्व की विस्मृति नहीं हो सकती। बल्कि जिसमें भावावस्था की भूमिका प्रधान होगी, वह भी क्रियावस्था के विवेक की उपेक्षा नहीं करेगा। यह नमक है, यह शक्कर है, यह लाल या पीला रंग है, या वह वस्तु चौकोर, गोल आदि है— इन बातों का ज्ञान उसे रहत ही है। कल को यदि यह सिद्ध हो जाये कि किसी बाह्य कारण से, व्यक्तिगत अथवा सामाजिक स्वास्थ्य के लिए किसी व्यक्ति को, जैसे किसी कुष्ठगोमी को, न छूना इष्ट है, तो वह भी अपनी क्रियावस्था में ऐसा करेगा। वह खुद इस महारोगी की सेवा करेगा। खुद अपने को खतरे में डाल देगा, परन्तु इस बात की सावधानी अवश्य रखेगा कि खुद उसे यह बीमारी न लग जाये। उसका आशय यह नहीं है कि वह बीमारी खुद उसे लग जाये, बल्कि यह है कि कुष्ठरोगी का रोग दूर हो। इतना खतरा उसने मोल ले लिया कि बीमारी लगना ही हो तो मुझे लगे। पर दूसरों को न लग जाये, इसी लिए वह रोगी को समाज से दूर रखेगा और जरूरत पड़ने पर स्वयं भी दूर रहेगा। परन्तु इस नियमन में रोगी के प्रति आस्था, अनुकम्पा और आदर-भाव रहेगा। वह इस भाव को नहीं भूलेगा कि कुष्ठ-रोगी भी ईश्वररूप है, परन्तु समाज के बचाव के लिए वह सावधानी रखेगा, यह उसका विवेक हुआ। परन्तु यदि वह कुष्ठरोगियों को अपवित्र समझकर उन्हें दूर रखने, लगे, उनकी सेवा की उपेक्षा करने लगे, उनका तिरस्कार करने लगे, तो उसकी ईश्वर को सर्वत्र देखने की भावना बिलकुल खतम हो जायेगी। फिर उसकी स्थितप्रज्ञावस्था का मतलब ही क्या रहा? 'सब कुछ एक ही है' वह भावावस्था है, क्रियावस्था नहीं—सनातनी लोगों का यह कहना सत्य है, परन्तु उनका यह खयाल गलत है कि ये अवस्थाएं एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। वे एक ही निष्ठा के विभिन्न प्रकार हैं। इस तरह विचार करने पर सनातनियों के कथन में जो सार है वह भी दिखायी देगा और असार भी मालूम हो जायेगा।

सत्रहवाँ व्याख्यान

39

173. भाव द्वारा क्रिया का नियमन होता है, इसका अधिक विवरण

स्थितप्रज्ञ की तिहरी अवस्था का विवरण हम कर रहे हैं। ज्ञान, भाव, और क्रिया—ये तीन अवस्थाएं भले ही आक्रमणकारी न हों तो भी अनुग्रहकारी अवश्य हैं। अर्थात् वे एक-दूसरे के सिर पर नहीं चढ़ बैठतीं, तो भी परस्पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहतीं। इन्द्र-धनुष के भिन्न-भिन्न रंग अपने-अपने तौर पर भिन्न दीखते हैं, तो भी उनकी छटा एक-दूसरे पर झलकती है और उन सबका मिलकर इन्द्रधनुष बनता है। उसी तरह ये तीन अवस्थाएं मिलकर ज्ञानी पुरुष का जीवन बनता है। उदाहरण के लिए भाव बनाम क्रिया ऐसी स्थिति हो तो क्या होगा, इसका हमने विचार किया। क्रियावस्था पर यदि भावावस्था का अनुग्रह न रहा, तो विवेक की परिणति भेद में होने की संभावना है। जैसे सनातनियों की हरिजनों के खिलाफ दलील। वस्तुतः यह दलील व्यर्थ है, क्योंकि वहाँ जिसे 'विवेक' कहा गया है वह विवेक नहीं, केवल 'भेद' ही है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को जन्मतः अस्पृश्य माने, इसमें क्या विवेक हो सकता है? वह तो परम्परागत मूढ़ भेद ही साबित होता है। विवेक और भेद, ये दोनों बिलकुल भिन्न-भिन्न भूमिका पर आधारित हैं। खाद्य और अखाद्य के विचार को 'विवेक' कह सकते हैं। विवेक के उदाहरण के तौर पर हमने कुष्ठ-रोगी की मिसाल ली थी। कुष्ठ-रोगी को हम दूर तो रखेंगे, परन्तु उसमें उसके प्रति सहानुभूति, सेवा-भाव और समादर रहना चाहिए। अलग रखना यदि प्रेम-भाव से प्रेरित होगा तो वह 'विवेक' होगा, नहीं तो 'भेद' ही है। दूसरा उदाहरण न्यायाधीश का ले सकते हैं। न्याय करते समय न्यायान्याय-विवेक तो करना ही चाहिए, नहीं तो न्याय का कोई मतलब ही नहीं रह जाता। परन्तु उस क्रिया पर सर्वात्मभाव की मुहर लगनी चाहिए। सीधी-सादी भाषा में कहें तो न्याय में दया का मिश्रण चाहिए। तभी वह समुचित न्याय होगा। आत्मौपम्य-बुद्धि के बिना न्याय बदले का रूप धारण कर लेगा।

174. वही बात ज्ञान द्वारा भी। उसी से निष्काम कर्मयोग का जन्म होता है

जिस प्रकार भाव द्वारा क्रिया का नियमन होना चाहिए, उसी प्रकार ज्ञान द्वारा भी क्रिया का नियमन होना चाहिए। ज्ञानावस्था की भूमिका इस प्रकार है—मैं शुभ और अशुभ से परे हूँ, मेरी दृष्टि से

दोनों त्याज्य ही हैं। और क्रिया में तो शुभाशुभ-विवेक आवश्यक है। इस प्रकार ये दोनों भूमिकाएं परस्परविरोधी मालूम होती हैं, परन्तु वस्तुतः दोनों परस्पर-अनुग्राहक हैं। ज्ञानावस्था और क्रियावस्था भिन्न-भिन्न हों, तो भी ज्ञानी पुरुष की क्रिया पर उसके ज्ञान की प्रभा झलकती है। उसके ज्ञान का रंग उसकी क्रिया पर चढ़ता है। उसकी क्रिया उसके ज्ञान से प्रकाशित और मंडित होती है। क्रिया में शुभाशुभ-विवेक होता हो, तो भी शुभ और अशुभ दोनों मिथ्या हैं, यह ज्ञान उसे अवश्य रहता है। इससे क्रियावस्था में भी वह अलिप्त और निरहंकार रहता है। केवल ज्ञानावस्था में ही सर्व-कर्म-संन्यास की भूमिका रहती है। क्रियावस्था में वह शुभाशुभ-विवेक से काम लेता है। तो भी ज्ञानावस्था के ज्ञान के कारण अहंकार या लिप्तता नहीं आने पाती। उसी में से निष्काम कर्मयोग का जन्म होता है।

175. 'मुक्त का चिंतन करते-करते स्वयं ही मुक्त होते हैं।' अतः स्थितप्रज्ञ की अवस्थाओं का ज्ञान साधक और समाज के लिए आवश्यक

इस तरह ये तीनों अवस्थाएं परस्पर-संस्पृष्ट, परस्पर-संमिश्र हैं। ये तीनों मिलकर स्थितप्रज्ञ का एक ही परिपूर्ण और भव्य जीवन बनता है। परन्तु स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह भव्य लक्षण जानने से हमें क्या लाभ? यह प्रश्न मन में उठ सकता है। उसका उत्तर ज्ञानदेव देते हैं—**मुक्तातें निर्धारितां। लाभे आपुली चि मुक्तता॥**-'मुक्त का चिन्तन करते-करते खुद ही मुक्त होते हैं।' मुक्त पुरुष के जीवन का चिन्तन करने से हमें अपनी मुक्ति के दर्शन होते हैं। मुक्ति केवल स्थितप्रज्ञ की बपौती नहीं है, वह तो सभी की अपनी है। मुक्त पुरुष के चिन्तन से हमारी खोयी हुई वस्तु खोज निकालने की दिशा हाथ लगती है। अतः उसका जीवनादर्श और जीवन-स्पर्श साधक और समाज के लिए उपयोगी है। उसकी ये अवस्थाएँ यद्यपि उसके लिए स्वाभाविक हैं, तो भी हमें वे प्रयत्न से साध्य होंगी और इसलिए अनुकरणीय हैं। हमें उस दिशा में जाना है। अपना जीवन तदभिमुख बनाना है। उसका अनुसरण करना है। सारे समाज के ऐहिक जीवन की सार्थकता भी मोक्ष-प्रवण होने में है। स्थितप्रज्ञ के उदाहरण से यह मालूम होता है कि जीवन मुक्ति का साधन हो सकता है। स्थितप्रज्ञ में हमें परिपूर्ण और निर्दोष आदर्श का दर्शन होगा। दूसरे लोगों के प्रयत्न में दोष रहेंगे, कमियाँ रहेंगी। तो भी आत्मा का स्वरूप सर्वत्र समान ही होने के कारण स्थितप्रज्ञ के जीवन की अवस्थाओं का ज्ञान साधक और समाज के लिए आवश्यक है।

176. स्थितप्रज्ञ की त्रिसूत्री 'ॐ तत् सत्' द्वारा सूचित

यहाँ त्रिसूत्री में वर्णित विषय भगवद्गीता में सत्रहवें अध्याय के अन्त में 'ॐ तत् सत्' मंत्र द्वारा बताया गया है। मंत्र यद्यपि शब्दात्मक रहता है, तो भी उसकी सामर्थ्य विलक्षण होती है। वह वस्तु-शून्य नहीं होता। मंत्र तोप के गोले से भी शक्तिशाली होता है। मंत्र जीवन को मोड़ता है। मंत्र के प्रभाव से और प्रेरणा से मनुष्य स्वेच्छा से अपना जीवन तदनुरूप बनाने लगता है। स्थितप्रज्ञ के जीवन-पथ पर सब लोग चल सकें, इसी लिए गीता ने दयालु होकर यह चिंतामणि-जैसा मंत्र हमें दिया है। वह वेद और उपनिषदों का साररूप समझा जाता है।

177. पहला पद ॐ : 'ॐ' शब्द भावावस्था की लब्धि के लिए भावनीय है

उसमें ॐ पहला पद है। ॐ माने ईश्वर-तत्त्व—विराट, व्यापक, विशाल! सबका समावेश करनेवाला ब्रह्म का सगुण स्वरूप। ॐ अक्षर है और शब्द भी है। शब्द के रूप में ॐ का अर्थ 'हाँ' है। ॐ ईश्वर का 'हाँ' रूप है। **तुका म्हणे जें जें बोला। तें तें साजे या विठ्ठला।** तुकाराम कहते हैं, 'जो जो कहें सो-सो विट्ठल को सोहै।' इस तरह तुकाराम ने ईश्वर का हंकारात्मक वर्णन किया है। वह साकार है? 'हाँ'। निराकार है? 'हाँ'। शुभ है? 'हाँ' । अशुभ है? 'हाँ'। सगुण है? 'हाँ'। निर्गुण है? अणु है? महान है? इत्यादि सब प्रश्नों का उत्तर है, 'हाँ'। **इदंमयः अदोमयः**—वह यह भी और वह भी है। जो कुछ कल्पना में समाता है और नहीं भी समाता है, उस सबको अपने उदर में समा लेनेवाला जो व्यापक, विशाल, भव्य रूप है, उसका वाचक ॐ शब्द है। अतः भावावस्था की लब्धि के लिए ॐ शब्द भावनीय है।

178. 'ॐ' अक्षर वर्णमात्र का प्रतीक है

अक्षर के रूप में 'ॐ' वर्णमात्र का प्रतीक माना जाता है। उसकी शुरुआत अ' से है और अंत 'म' में है। इन दोनों को जोड़नेवाली कड़ी है 'उ'। वर्णमाला का आरम्भ 'अ' से होकर 'म' में उसकी समाप्ति होती है। वर्ण का उद्गम कंठ से होता है और समाप्ति ओंठ पर।' 'अ' वर्णों का आदि, कंठ से उच्चारित और 'म' ओष्ठ-स्थान से उच्चारित अंतिम वर्ण है। 'म' का उच्चारण करते हुए हम दोनों ओंठ

मिला लेते हैं और नाक से भी कुछ काम लेते हैं। अतः 'म' के बाद कोई वर्ण नहीं है। हम 'म' के बाद य,र,ल,व की गिनती करते हैं, परन्तु वे आंतर स्थान से उत्पन्न होनेवाले वर्ण हैं। कंठ और ओष्ठ के दरमियान उनका स्थान है। कंठ और ओष्ठ के बीच के स्थान से उत्पन्न होनेवाले वर्णों का प्रतिनिधि 'उ' मौजूद है। 'उ' का अर्थ है उभय, इधर और उधर की संधि करनेवाला। कुल मिलाकर सर्व सारस्वत, सर्व साहित्य, सर्व शुभाशुभ वाङ्मय ॐ में आ गये। यह उत्पत्ति है तो काल्पनिक, परन्तु इस तरह सारी वाणी का एक प्रतीक कल्पित करने से वह ॐकार रूप व्यापक, विश्वरूप ईश्वर-तत्त्व के चिह्न के तौर पर चिन्तन में उपयोगी होता है।

179. ॐ की व्युत्पत्ति : ॐ एक धातुरूप है

तुलनात्मक व्युत्पत्ति की दृष्टि से मेरा खयाल है कि 'ॐ' एक धातुरूप है। 'सर्वत्र व्याप्त होकर रहना', उस धातु का मूल अर्थ है। जो स्वरूप भूतमात्र में पिरोया हुआ है, वह ॐ है। दरअसल मराठी का 'ओंव' धातु अति प्राचीन अर्थात् पूर्ववैदिक 'ॐ' धातु से ही बना है। इन दिनों शास्त्रज्ञों ने भी लगभग यह मान लिया है कि मराठी की व्युत्पत्ति कहीं-कहीं पूर्ववैदिक काल से जा मिलती है। कुछ लोग 'ओंव' धातु को संस्कृत के 'वे' धातु से संबद्ध मानते हैं, लेकिन उसमें 'ओंव' में आये अनुस्वार की उपपत्ति सधती नहीं। ओंवी (छंद) जो मराठी भाषा की गायत्री ही है, इसी 'ॐ' धातु का रूप है। ओंवी वह छंद है, जिसमें सभी वाङ्मय सुलभता से ग्रथित किया जा सकता है। जिस प्रकार ॐकार में साढ़े तीन मात्रा की कल्पना है, उसी प्रकार ज्ञानदेव ने अपनी ओवियां साढ़े तीन चरण की रची है। 'उमा' शब्द में यही धातु है और उसका अर्थ है विश्वव्यापिनी देवी। इस धातु में 'वि' उपसर्ग जोड़कर परम व्यापक आकाश का सूचक 'व्योमन्' शब्द बना है। लैटिन का 'ऑम्निस' अर्थात् सर्व या विश्व इस ॐ की ही विकृति है। 'ऑम्निप्रेजेंट' इत्यादि अंग्रेजी शब्दों में लैटिन की यही विकृति पायी जाती है। इस तरह विचार करने पर स्थितप्रज्ञ की सकल विश्व का आलिंगन करनेवाली भावावस्था को सूचित करने के लिए 'ॐ' रूपी मंत्रावयव बिलकुल उपयुक्त प्रतीत होता है।

180. दूसरा पद 'तत्' : ज्ञानावस्था की प्राप्ति के लिए चिंतनीय

दूसरे पद 'तत्' का अर्थ है, 'वह'। जो न सत्, न असत्। 'वह' यानी जो यह नहीं है, जो पास का नहीं है अर्थात् जो कल्पना से परे है। 'तत्' के चिन्तन से ज्ञानी पुरुष की ज्ञानावस्था सिद्ध होती है। **तत् त्वं असि**—तू वह है, इस वाक्य में वह अवस्था दरसायी गयी है। यह कूड़ा-करकट, यह त्रिगुणात्मक जगत् तू नहीं है, तू इसके परे है, तुझे किसी का भी स्पर्श नहीं, यह बोध **तत् त्वं असि** इस वाक्य द्वारा कराया गया है। वही यह 'तत्' है।

181. तीसरा पद 'सत्' : क्रियावस्था की सिद्धि के लिए सेवनीय

तीसरा पद है 'सत्'। यह तो स्पष्ट ही है। अशुभ को छोड़कर जो शुभ को ग्रहण करता है, वह है सत्। 'सत्य का आग्रह, असत्य का त्याग' इस भूमिका को 'सत्' सूचित करता है। सत् अर्थात् 'शुद्ध' ब्रह्म।

182. कुल मिलाकर 'ॐ तत् सत्' यह मंत्र व्यापक, अलिप्त और परिशुद्ध जीवन का वाचक है। वही किसी भी पूर्ण विचार का स्वरूप है

इस तरह 'ॐ' से व्यापक ब्रह्म, 'तत्' से निर्गुण ब्रह्म और 'सत्' से शुद्ध ब्रह्म का बोध होता है। ये तीन पद ज्ञानी पुरुष की तिहरी अवस्था के द्योतक हैं। वे तीनों अवस्थाएं बिलकुल अलग-अलग नहीं हैं। हमने पहले यह तो देखा ही है कि ये तीनों अवस्थाएं मिलकर ज्ञानी पुरुष का एक ही जीवन बनता है। क्रियावस्था में 'सत्' प्रधान होता है। स्थूल जीवन का मुख्य भाव क्रिया ही है। मनुष्य का व्यक्त, प्रकट जीवन क्रियात्मक ही होता है। महापुरुषों के जो जीवन-चरित्र लिखे जाते हैं, उनमें उनके द्वारा किये गये कार्यों का ही मुख्यतया वर्णन होता है; क्योंकि जीवन का मुख्य दृश्य-भाग क्रिया ही है। उसके अनुसार 'सत्' को मुख्य शब्द समझना चाहिए। अर्थात् व्याकरण की भाषा में वह संज्ञा होगी। 'ॐ' और तत्' ये दोनों उसके विशेषण समझने चाहिए। क्रियावस्था को मुख्य मानकर उसे मंडित करने के लिए बाकी दोनों अवस्थाओं के विशेषण जोड़ लें। उभय-विशेषण-विशिष्ट 'सत्' शब्द अर्थात् **'ॐ तत् सत्'** मंत्र ('ॐ' अर्थात्) व्यापक, ('तत्' अर्थात्) अलिप्त, ('सत्' अर्थात्) परिशुद्ध जीवन का द्योतक होगा।

इस तरह व्यापक, अलिप्त और परिशुद्ध अथवा सत्यमय, यह सब मिलकर पूर्ण जीवन का स्वरूप बनता है, और यही किसी भी पूर्ण विचार अथवा पूर्ण प्रयोग का स्वरूप होगा।

183. सत्याग्रह का उदाहरण

उदाहरण के लिए हम सत्याग्रह का स्वरूप देखें। सत्याग्रह में सत् का आग्रह और असत् का विरोध तो स्पष्ट ही है; लेकिन सत्य को अपनाकर असत्य का प्रतिकार करते समय विश्वात्मभाव को नहीं भूलना चाहिए। सामनेवाला भी मेरा ही रूप है, यह व्यापक ज्ञान सतत बना रहना चाहिए। अपने हाथ में लगे काँटे को जिस तरह सँभालकर व हलके हाथ से मैं निकालता हूँ, उसी सावधानी और चिन्ता से दूसरे के जीवन के दोष निकालने का प्रयत्न करूँगा। यह ध्यान में रख, कि यह कार्य ऊपर से दूसरे को सुधारने का भले ही दिखायी दे, परन्तु वस्तुतः तो यह तेरा खुद को सुधारने का ही कार्य है। न क्रोध कर, न चिढ़; क्योंकि जहाँ तुझे अशुभ दिखायी देता है, वहाँ शुभ भी है। उसे देख। उस शुभ द्वारा उसके हृदय में प्रवेश कर, तब तू अशुभ का सफलतापूर्वक प्रतिकार कर सकेगा। 'ॐ' पद द्वारा यही सुझाया गया है। ॐकार कहता है—जिसका तू प्रतिकार करना चाहता है, जिसे तू अशुभ समझता है, वह भी ईश्वर का ही स्वरूप है, इस भावना की छाप तेरे प्रतिकार पर पड़ने दे। यही सत्याग्रह की बुनियाद है। लेकिन यह सब करने के बाद यह मेरी विजय हुई, यह सब मैंने किया है, ऐसा भास मत होने दे। यह ध्यान में रख कि वस्तुतः यह सब खेल है, मृगजल है। इस सबसे तेरा और उसका वास्तविक रूप अलग है। खेल में फँसकर अपना भान मत भूल। खेल खेल ही रहना चाहिए। यह भेद निरन्तर याद रखना चाहिए कि हम इससे अलग हैं। यह अलिप्तता का तत्त्व 'तत्' पद से सूचित किया गया है।

184. यही बात सारे जीवन पर लागू होती है

सत्याग्रह का उदाहरण तो दृष्टान्त के लिए दिया। मनुष्य-जीवन के सम्पूर्ण आचार का यही सूत्र है। पुत्र पिता से, पिता पुत्र से, शिष्य गुरु से, गुरु शिष्य से तथा ऐसे ही दूसरे संबंधों में परस्पर कैसा व्यवहार करें, इसका सूत्र इस मंत्र में है। इस मंत्र के तीनों शब्दों को मिलाकर जो भाव बनता है, वह उसके प्रत्येक शब्द में गृहीत समझना चाहिए। अगर शुभाशुभ का संग्रह करनेवाला केवल ध्यानावस्था का तत्त्व ही उसमें से अलग निकाल लें, तो जीवन-व्यवहार के लिए आवश्यक विवेक ही खतम हो

जायेगा और अगर शुभाशुभ के परे के केवल ज्ञान की ही भूमिका ग्रहण करें, तो सारे कर्म ही लुप्त हो जायेंगे। अगर शुभाशुभ-विवेकयुक्त क्रियावस्था को ही अपनायें तो विवेक के नाम पर जीवन में असंख्य भेद उत्पन्न हो जायेंगे। जीवन खंडित और भेद-संकुल बन जायेगा। इसलिए तीनों स्वरूपों का एक साथ विचार करके जब क्रिया की नीति और स्वरूप का निश्चय करेंगे, तभी वह निर्दोष होगी। ये तीनों बातें ध्यान में रखकर ही यहाँ स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये गये हैं।

41

185. उपसंहार : अर्जुन के प्रश्न का आकार और उसके अनुसार स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का प्रवाह

यहाँ पर स्थितप्रज्ञ के लक्षण समाप्त होते हैं। लेकिन हम एक बार फिर अर्जुन के मुख्य प्रश्न का आकार ध्यान से देखें तो स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का प्रवाह समझ में आ जायेगा। अर्जुन का पहला प्रश्न है—स्थितप्रज्ञ की भाषा बताइये। भाषा यानी व्याख्या। सो एक ही श्लोक में भगवान् ने विधायक और निषेधक, दोनों प्रकारों को मिलाकर एक परिपूर्ण व्याख्या बताकर उसके प्रश्न का उत्तर दे दिया। लेकिन अर्जुन केवल व्याख्या पूछकर ही नहीं रुका। उसने यह भी पूछा कि स्थितप्रज्ञ कैसे रहता है और कैसे चलता-फिरता है? इसका उत्तर उन्होंने ऐसा नहीं दिया कि वह इस तरह बोलता है—मधुर या कठोर बोलता है, वह इस तरह रहता है—गरीबी से या मध्यम अवस्था में रहता है, वह इस तरह चलता है—द्रुत अथवा मंद गति से चलता है, आदि। तीनों प्रश्नों का अर्थ सारे जीवन को लेकर किया है। बोलना, चलना और रहना, इसका अर्थ हम समग्र जीवन ही लेते हैं और यही अर्थ ग्रहण करके यहाँ उत्तर दिया गया है। फिर इस उत्तर में तीनों प्रश्नों के अक्षरार्थ के संकेत भी अस्पष्ट रूप से मिलते हैं। 'कैसे बोलता है?' इस प्रश्न द्वारा स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का स्थूल विवेचन अथवा उसका प्रत्यक्ष आचरण जानने की इच्छा की गयी है, यह मानकर तीन श्लोकों में उसका उत्तर दिया है। उसके प्रश्न का बिलकुल अस्पष्ट संकेत **नाभिनंदति न द्वेष्टि** अर्थात् वह न किसी का अभिनन्दन करता और न किसी को बुरा ही बताता है, इन शब्दों में सूक्ष्मदर्शी टीकाकारों ने खोज निकाला है। 'कैसे रहता है?' इन शब्दों में उसने यह अवस्था कैसे प्राप्त कर ली है, किस साधना से की है, यह जिज्ञासा मानकर उसका वर्णन उपपत्ति-सहित दस शलोकों में किया है। **किमासीत?** इस प्रश्न का संकेत **आसीत मत्परः** में झलकता है। अंत में **किं व्रजेत?** अर्थात् फिरता कैसे है? इस प्रश्न के उत्तर में स्थितप्रज्ञ का विहार-वर्णन करनेवाली त्रिसूत्री कही

गयी है। **पुमांश् चरति निःस्पृहः** इसमें 'चरति' शब्द में उस शब्द का संकेत समझना चाहिए। कुल मिलाकर अर्जुन का प्रश्न इस तरह है—(1) समाधि में स्थिर हुआ जो आपका स्थितप्रज्ञ है, उसके विधायक और निषेधक दोनों रूपों को लेकर परिपूर्ण व्याख्या क्या होगी? (2) स्थितप्रज्ञ का प्रकट, प्रत्यक्ष, सबके लिए सुबोध, अनुकरण-सुलभ लक्षण क्या होगा? (3) किस साधन और किस उपपत्ति से उसने वे लक्षण अपने में उतारे होंगे? (4) स्थितप्रज्ञ के इस लोक की जीवन-यात्रा अथवा जीवन-लीला के स्वरूप की भूमिका कैसी होगी? यदि अर्जुन के इस प्रश्न का ऐसा व्यापक अर्थ करें, तो फिर उससे ठीक वही अर्थ फलित होगा, जो यहाँ दिया गया है।

7. विमुक्त्यधिकरणम्

अठारहवाँ व्याख्यान

42

186. स्थितप्रज्ञ-लक्षणों की अनुभवसिद्ध फलश्रुति

स्थितप्रज्ञ-लक्षण यहाँ समाप्त होते हैं। अब अंतिम श्लोक में फलश्रुति कही गयी है। परन्तु कई भारी-भरकम धर्मग्रंथों की फलश्रुति जैसी बेकार होती है, वैसी पद्धति गीता की नहीं है। गीता में हर जगह अनुभव-सिद्ध, युक्तियुक्त और सुनिश्चित फलश्रुति बतायी गयी है। यहाँ भी वैसी ही शास्त्रीय फलश्रुति कही गयी है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

'हे अर्जुन! इस स्थिति को 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं। जो इसे प्राप्त कर लेता है, वह फिर उससे नहीं डिगता, मरण-काल में भी वह स्थिति ज्यों-की-त्यों कायम रहती है और इसके फलस्वरूप वह ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करता है।' आखिरी श्लोक में यह फलश्रुति बतायी है।

187. 'स्थिति' शब्द की खूबी

यहाँ का 'स्थिति' शब्द 'वृत्ति' से पृथक्त्व सूचित करता है। 'स्थितप्रज्ञ' शब्द में भी यही शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'वृत्ति' और 'स्थिति' शब्दों का अंतर उनके धात्वर्थ पर ध्यान देने से और अधिक स्पष्ट होगा। 'स्थिति' में 'स्था' धातु है। 'स्था' का अर्थ है खड़े रहना। इसमें स्थिरता का, अचांचल्य का भाव है। 'वृत्ति में 'वृत्' धातु है। इसका अर्थ है गोल-गोल घूमना, घूमते रहना। 'वर्तुल' शब्द में भी यही धातु है। 'वृत्ति' में अस्थिरता का, एक जगह टिक कर न रहने का भाव है। मनुष्य की वृत्तियाँ टिकती नहीं हैं। वे बदलती रहती हैं। जागृति के बाद सुषुप्ति आती है और सुषुप्ति से स्वप्न। फिर जाग्रतावस्था में कभी क्रोध-वृत्ति, और कभी मोह, कभी उत्साह और नैराश्य आदि कई वृत्ति-भेद पाये जाते हैं। इस तरह अनेक वृत्ति-भेद होते हुए भी योगशास्त्र ने उनके पाँच वर्ग बनाये हैं। इन पाँचों प्रकार की वृत्तियों से अलग होना ही 'योग' है। इसके साधन-स्वरूप आठ सीढ़ियाँ बतायी गयी हैं। उनमें अंतिम सीढ़ी है समाधि, अर्थात्

'ध्यान-समाधि'। लेकिन ध्यान-समाधि योग नहीं है, क्योंकि वह भी एक वृत्ति ही है। हाँ, वह आखिरी वृत्ति है, फिर भी योग नहीं है। योग अर्थात् सब वृत्तियों का अभाव अथवा अधिक सही भाषा में कहें, तो सब वृत्तियों के प्रभाव का अभाव। समाधि ध्यान-वृत्ति का परिपाक है। यों तो मनुष्य की वृत्ति या तो विक्षिप्त अर्थात् चंचल या गतिमान रहती है, अथवा शून्य होती है। समाधि में वह स्थिर होती है। स्थिर कहते ही 'स्था' धातु आ जाता है सही; परन्तु वह उतने ही समय के लिए।

188. आत्मज्ञान और ध्यान-समाधि का भेद : ध्यान उतर जाता है

समाधि से मुख्य लाभ यह होता है कि दूसरी सब वृत्तियों को हटाकर एक इष्टदेव के चिंतन की वृत्ति ही उसमें बाकी रहती है। इष्टदेव को हम सब मंगल गुणों से परिपूर्ण मानते हैं, इसलिए उसके चिंतन से चित्त का मैल धोने में बड़ी सहायता मिलती है। लेकिन यह ध्यान-समाधि भी कुछ समय बाद उतर जाती है। ध्यान-समाधिरूप वृत्ति के भी उस पार जाने पर वृत्ति-शून्य स्थिरता प्राप्त होती है। इसे योगशास्त्र में 'प्रज्ञा' कहते हैं। इसी प्रज्ञा के स्थिर होने पर चित्त सहज ही निर्मल, प्रसन्न, शान्त और आत्मनिष्ठ रहता है। यही ब्राह्मी स्थिति है। यही स्थितप्रज्ञ की हमेशा टिकनेवाली सहजावस्था है। समाधि की वृत्ति लानी पड़ती है। उससे व्युत्थान होता है। व्युत्थान का अर्थ है चलन। इसमें वैसा व्युत्थान नहीं है। ब्राह्मी स्थिति और ध्यान-समाधि में यही अन्तर है। आरम्भ में ही हमने इसे देख लिया है। उसी का यहाँ अधिक विवरण किया है। ब्राह्मी स्थिति नित्य है। उसके प्राप्त हो जाने पर फिर उससे चलन नहीं होता। **'नैनां प्राप्य विमुह्यति'**-फिर मोह नहीं होता। अन्य ज्ञानों की तरह आत्मज्ञान में 'पुनश्च वही पीछेवाली बात' नहीं है।

189. आत्मज्ञान और अन्य ज्ञान में भेद : अन्य ज्ञान भाररूप

'ज्ञान' और 'ध्यान' में तो भेद है ही, परन्तु आत्मज्ञान और अन्य ज्ञानों में भी भेद है। ध्यान कृत्रिम होता है। वह प्रयत्नपूर्वक स्वीकार की गयी वृत्ति है। ज्ञान वैसा कृत्रिम नहीं है, वह प्रयत्नपूर्वक लाया हुआ नहीं होता। यह तो हुआ ज्ञान और ध्यान का अंतर; परन्तु अन्य सब प्रकार के ज्ञानों और आत्मज्ञान में भी महत्त्वपूर्ण अन्तर है। मैंने भूगोल का अभ्यास किया। परीक्षा समाप्त हुई कि अब उस ज्ञान की आवश्यकता नहीं रही। उसे भूल गया। काशी में रहते हुए उत्तर प्रदेश की रेलगाड़ियों का समय-पत्रक

मुझे याद था, पर अब उसकी जरूरत नहीं, भूल गया। यह ज्ञान बाह्य विषयों का होने के कारण बुद्धि के लिए भार-स्वरूप होता है। जब तक उसका उपयोग होता है, तभी तक बुद्धि उसका भार वहन करती है। काम निपटते ही उसे फेंक देती है। ऐसा अवांतर ज्ञान का बहुत-सा बोझ बुद्धि पर लादना भारी विद्वत्ता का लक्षण समझा जाता है। भारी-भरकम विद्वत्ता का अर्थ है, बुद्धि पर अधिक बोझ लादकर उसे कमजोर बनाना! ऐसी भारी विद्वत्ता से बुद्धि में जड़ता और स्थूलता ही आयेगी। भगवान् करे कभी ऐसी भरकम विद्वत्ता किसी को न मिले! यह बात आत्मज्ञान पर लागू नहीं होती। आत्मज्ञान बोझ नहीं है।

190. आत्मज्ञान, ध्यान और अन्य ज्ञानों का अधिक विवरण

ध्यान की कोटि बिलकुल अलग है। हम उपमा देते हैं, उदाहरणों से विषय को स्पष्ट करते हैं, रूपकों क्रा उपयोग करते हैं, चित्र बनाते हैं, ये सब ध्यान के ही प्रकार हैं। एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर आरोप करना ध्यान है। किसी संकेत को वस्तु का प्रतिनिधि समझना ध्यान का तत्त्व है। अर्थात् स्यान एक बनावट है। कागज पर हम 'आलमारी' ये अक्षर कलम से लिखते हैं और लकड़ी की आलमारी का आरोप उन अक्षरों पर करते हैं। यह ध्यान है। उससे ज्ञान नहीं बढ़ता। साहित्य के अलावा उसका स्वतंत्र उपयोग भी नहीं है। अक्षरों की उस आलमारी में घी की बरनी नहीं रखी जा सकती। वह तो सिर्फ एक वस्तु का चित्र अथवा प्रतीक है। अलग-अलग भाषाओं में ऐसी एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न प्रतीक होंगे। लेकिन किसी सकेत को वस्तु का प्रतिनिधित्व देना—यह आखिरी बनावट ही है। ध्यान की तरह बाह्य विषयों का ज्ञान बनावट न होने पर भी, वह आत्मा के बाहर का होने से, उसका बोझ बुद्धि पर रहता है। यह अमुक वनस्पति है, इसके अमुक-अमुक गुण-धर्म हैं। यह सब मैंने उस पर लादा नहीं है, यह सच है, अर्थात् यह वस्तु-ज्ञान है, लेकिन है बाहरी। वह मुझे याद रखना पड़ेगा। किन्तु यह बात आत्तमज्ञान में नहीं है। वह जिस तरह बनावटी नहीं है, उसी तरह बाहरी भी नहीं है। इसलिए वह एक बार प्राप्त हुआ कि हमेशा के लिए प्राप्त हो गया। फिर उसके मलिन होने या नष्ट होने की संभावना नहीं है। यानी वह ज्ञान बौद्धिक नहीं, आत्मगत है। आत्मा में भिद गया है। अब वह किसी भी प्रकार से दूर नहीं होगा। इसी को कहा है, **नैनां प्राप्य विमुह्यति।**

191. ब्राह्मी स्थिति अंतकाल में भी टिकती है

स्थित्वास्यां अंतकालेऽपि—'अंतकाल में भी इस स्थिति में टिककर' इन शब्दों का अर्थ क्या है? कुछ लोग उसका अर्थ यह करते हैं कि अंतकाल में भी ब्राह्मी स्थिति को टिका रखना चाहिए। मनुष्य का अंतकाल कठिन माना जाता है। उस समय अपनी स्थिति को टिकाये रखना सरल नहीं होता। इतने प्रयासपूर्वक प्राप्त की गयी स्थिति ऐन मौके पर अर्थात् आखिरी क्षण में कायम नहीं रही, तो सारा ही किया-कराया धूल में मिल जायेगा। अंतसमय में गाड़ी फिसल पड़े, तो सभी चकनाचूर हो जायेगा। इसलिए आमरण और मरण के समय भी उस स्थिति को टिकाये रखने की चिन्ता रखनी चाहिए, ऐसी विशेष सूचना इस वाक्य से ग्रहण की जाती है। परन्तु यह ठीक नहीं है। अंतकाल का महत्त्व है, इसमें कोई संदेह नहीं; और यह भी सच है कि साधक को उसके लिए अंतसमय तक जागरूक रहना चाहिए। इसलिए गीता के आठवें अध्याय में प्रयाणकालीन साधना सविस्तर बतायी गयी है। और वहीं यह सूचना भी दे दी गयी है कि इस प्रयाण-काल की साधना को शक्य बनाने के लिए जीवनभर वैसा अभ्यास करते रहना चाहिए। परन्तु यह सब साधकावस्था के लिए है, ब्राह्मी स्थिति के लिए नहीं। वास्तव में ऐसी बात ही नहीं है कि ब्राह्मी स्थिति का क्षणमात्र के लिए अनुभव हो और बाद में शायद वह स्थिति चली जाये, और इसलिए उसे टिकाये रखने का सतत प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि ब्राह्मी स्थिति कोई वृत्ति नहीं है। वह तो निरन्तर रहनेवाली अवस्था है। उसे संभालते बैठने की आवश्यकता ही नहीं होती। वह तो टिकेगी ही। विकट माने जानेवाले अंतकाल में भी वह नहीं डिगेगी। यह **अंतकालेऽपि** का अर्थ है। 'स्थिति' शब्द में जो अर्थ सूचित किया गया है, उसका विवरण **नैनां प्राप्य विमुह्यति** वाक्य द्वारा किया है और वही फिर **स्थित्वास्यां अंतकालेऽपि** वाक्यखंड द्वारा विशद किया गया है।

192. ब्राह्मी स्थिति में 'अगर-मगर' के लिए अवकाश नहीं है

ब्राह्मी स्थिति हमेशा टिकती है, आपत्काल में भी टिकती है और मरण-काल में भी टिकती है। अन्य ज्ञानों की तरह वह भूल जाने जैसी नहीं है। एक मनुष्य को कोई बीमारी हो गयी। उसने अंग्रेजी की कई परीक्षाएं दी थीं। और हुआ क्या कि अपने दीर्घकालीन और तीव्र रोग में वह अंग्रेजी का सारा ज्ञान एकदम भूल गया; क्योंकि वह सारा ज्ञान उसकी आत्मा के सिर पर लादा गया था। रोग से कमजोर हुई बुद्धि ने उसे फेंक दिया, यह ठीक ही किया। परन्तु आत्मज्ञान की ऐसी बात नहीं है। भले ही वह लाखों

जन्मों तक प्राप्त न हो, पर एक बार प्राप्त होने पर फिर वह जा नहीं सकता। 'प्राप्त आत्मज्ञान अगर अंतसमय में भी टिका, तो ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होता है'—ऐसी 'अगर-मगर' की बात यहाँ नहीं है। अगर-मगरवाले अर्थ की यहाँ गुंजाइश ही नहीं है। वस्तुतः यही स्पष्ट करने के लिए यह श्लोक है।

193. शंकराचार्य का विशेष अर्थ उपयुक्त, लेकिन अनावश्यक

शंकराचार्य के ध्यान में यह बात आये बिना नहीं रही। अतः उन्होंने 'अगर-मगर' वाले अर्थ को टालने के लिए एक दूसरी तरह से भाष्य किया है। अंतकाल में अर्थात् बिलकुल अंतिम क्षण में भी यदि यह स्थिति प्राप्त हो जाये, तो भी मनुष्य ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त कर लेगा—ऐसा उन्होंने अर्थ किया है। आचार्य का वह कथन सत्य है; लेकिन इस श्लोक के शब्दों से वैसा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। **स्थित्वास्यां अंतकालेऽपि** इन शब्दों की खूबी उसमें नहीं है। यह अवस्था इतनी दृढ़ और अडिग होती है कि अत्यंत विकट माने जानेवाले अंतकाल को भी दाद नहीं देती, उस समय भी यह नहीं गड़बड़ाती, ऐसी इन शब्दों की ध्वनि दिखायी देती है। आचार्य का अर्थ अनर्थ तो नहीं, परन्तु शब्द से दूर चला जाता है। और जो अर्थ ब्राह्मी स्थिति को टिकाने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता बताता है, उसे तो महज अर्थवाद ही कहना पड़ता है।

43

194. गीता का परम लक्ष्य 'ब्रह्म-निर्वाण'। वही जीवन की सफलता

अंत में **ब्रह्म-निर्वाणं ऋच्छति** इस वाक्य द्वारा फलश्रुति बतायी गयी है। 'स्थितप्रज्ञ' की तरह 'ब्रह्म-निर्वाण' भी गीता का अपना विशिष्ट शब्द है। 'ब्रह्म-निर्वाण' का अर्थ है, ब्रह्म में मिलना, घुल जाना, लीन हो जाना। 'ब्रह्म-निर्वाण को जाता है', इसका अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म किसी दूसरी जगह है और उसमें लीन होने के लिए कहीं जाना है। मुझमें और ब्रह्म में बाह्यतः देहाभिमान का पर्दा पड़ा दिखायी देता है। उस परदे का नष्ट हो जाना ही ब्रह्म में लीन हो जाना है। ब्रह्म तो मैं पहले से ही हूँ। देहाभिमानरूपी परदा हटाकर ब्रह्म में लीन होना, उसमें मिल जाना इसी में मनुष्य-जीवन की सफलता है इस आशय का सूचक शब्द 'ब्रह्म-निर्वाण' है। सारांश यह कि इस शब्द द्वारा गीता यह सूचित करती है कि सारा जीवन-

व्यापार, व्यक्तिगत घर-गृहस्थी, समाज-सेवा, ज्ञान-संपादन, ध्यान आदि सब बातें इसी उद्देश्य को सामने रखकर करनी चाहिए।

195. 'ब्रह्म-निर्वाण' का अर्थ है-देह को फेंककर व्यापकतम होना

ब्रह्म अर्थात् विशाल, व्यापक। संकुचित जीवन को छोड़कर ब्रह्मरूप होना हमारा ध्येय है। एक जीव दूसरे की अपेक्षा बड़ा है। दूसरे से तीसरा बड़ा है। जीवों में परस्पर ऐसा तर-तम-भाव पाया जाता है, तब भी ब्रह्म की तुलना में जीव बहुत छोटा है। कितना ही हो, फिर भी वह परिमित है। एक सीमा में बँधा हुआ है। यह बद्धता छोड़कर आजाद, खुला होना, व्यापक होना उसका ध्येय है। उस दिशा में प्रगति करना, उत्तरोत्तर व्यापकतर होते जाना यह साधना की दिशा है। व्यापकतम स्थिति प्राप्त होने का ही अर्थ है—'ब्रह्म-निर्वाण'। वहाँ देह का परदा हट जाता है। यों देखा जाये तो देह साधक के लिए एक साधनरूप है। कुछ समय तक वह साधना के लिए उपयोगी होती है। आगे मनुष्य की स्थिति जैसे-जैसे व्यापक होती है, देह को वह पीछे-पीछे छोड़ता जाता है। इस व्यापकता के अभ्यास में ही, प्रारम्भिक अवस्था में, शरीर एक साधन का काम देता है। लेकिन बाद की प्रगत अवस्थाओं में वह विघ्नरूप होने लगता है। ज्ञान, ध्यान, उपासना, कर्मयोग, इन सबके लिए प्रारम्भ में शरीर उपकारक होता है; पर बाद में इन सबका परिपाक विश्वव्यापी साक्षात्कार में होने पर सब कुछ आत्ममय दिखायी देने लगता है। इस अनुभूति के बाद शरीर निरुपयोगी होने लगता है।

196. इसी स्थिति में लोकसंग्रह परिपूर्ण होता है

इस स्थिति में भी, बल्कि विशेषतः इसी स्थिति में उसके द्वारा लोकसंग्रह होता दिखायी देता है। लोगों की दृष्टि में वह लोकसंग्रह महान प्रतीत होता है, पर ज्ञानी पुरुष की अपनी दृष्टि से वह अल्प होता है। जब कोई ज्ञानी पुरुष मरता है तो हमें लगता है कि बड़ा नुकसान हो गया, इतने महान लोक-संग्रह से हम वंचित हो गये। हमें वह पुण्य-दिवस प्रतीत नहीं होता। तब भी उसकी मृत्यु-तिथि को 'पुण्य-तिथि' कहना पड़ता है। तत्त्वज्ञ संतों ने हम पर यह शब्द लाद दिया है और हमने उसे चुपचाप स्वीकार कर लिया है; परन्तु वह शब्द अर्थपूर्ण है। वास्तव में वह पुण्य-तिथि ही होती है। ज्ञानी पुरुष के सच्चे लोकसंग्रह की उस दिन से शुरुआत होती है। उसके पहले का लोकसंग्रह वास्तव में बहुत अल्प होता है।

ज्ञानी पुरुष का हो, तो भी उसका शरीर तो इतना-सा ही ठहरा न! उसके द्वारा कितना लोकसंग्रह हो सकेगा? लेकिन शरीर द्वारा होने के कारण वह लोकसंग्रह प्रकट रहता है, दिखायी देता है। इस दर्शन-मोह के कारण ज्ञानी पुरुष का शरीर-पात होने पर हमें प्रतीत होता है कि बहुत बड़ा नुकसान हो गया। लेकिन सच तो यह है कि सर्वभूत-सेवा में यह शरीर आखिर बाधक ही होता है।

197. वहाँ देह नहीं है, क्योंकि देह की आवश्यकता नहीं है

शरीर का परदा रखते हुए सब भूतों के साथ पूर्ण समरस होना शक्य नहीं है। शरीर के कारण सबके हृदय में प्रवेश करने में बाधा आती है। जब तक हमारे पास अपने विशिष्ट हृदय का होना ही दूसरे के हृदय को पहचानने का साधन होता है, तब तक शरीर काम की चीज है। मैं स्वयं अपनी भूख-प्यास, सुख-दुःख इत्यादि अनुभवों से दूसरे की स्थिति को समझ पाता हूँ, इसी से आत्मौपम्य की साधना के लिए मुझे अवसर प्राप्त होता है। मेरा हृदय जब तक दूसरे की स्थिति को समझने का नाप होता है, तब तक शरीर का काम रहता है। लेकिन सर्वभूतहृदय का साक्षात्कार होते ही, तादात्म्य की अनुभूति होते ही, विशिष्ट देह, विशिष्ट इन्द्रियाँ, विशिष्ट मन, विशिष्ट बुद्धि, विशिष्ट हृदय, ये सब 'विशिष्ट' बाधक हो जाते हैं, उपाधि साबित हो जाते हैं। इसलिए इन सब उपाधियों को तोड़कर, देह-भाव फोड़कर, सर्वभूत-हृदय से तादात्म्य पाना, अनन्त में लीन होना, ब्रह्म में घुल-मिल जाना, यह अंतिम ध्येय समझ में आने जैसा है। इसी को 'ब्रह्म-निर्वाण' कहते हैं।

44

198. बौद्धों ने निषेधक शब्द 'निर्वाण' ले लिया

बौद्धों ने इसमें से 'ब्रह्म' निकालकर सिर्फ 'निर्वाण' शब्द को ले लिया। इसका अर्थ इतना ही है कि बौद्धों को निषेधक भाषा पसंद आयी। मनुष्य अपनापन छोड़ दे, अहंतारूपी मठके को फोड़ डाले, इसी भाव का सूचक 'निर्वाण' शब्द है। मनुष्य के मरने पर उसके नाम से हम एक हांडी फोड़ते हैं। हिन्दू-धर्मशास्त्र ने ऐसी एक विधि चला दी है। इसके मूल में यह कल्पना है कि यह यों भी 'मरा' तो कहा ही जायेगा, पर इसे सच्चे अर्थ में मर जाने दो। उसकी वासना का मटका फूट जाने दो, उसकी अहंता का नाश हो जाने दो। शरीर की राख कर डालने का हेतु भी यही है। बाप मर गया, उसे गाड़ दिया और

समाधि पर आम का पेड़ लगाया। उसमें आम लगे। हम कहते हैं, मेरे पिता की समाधि पर के ये आम हैं। माँ को खेत में गाड़ा, नीबू का पेड़ लगाया। इस नीबू को मेरी माँ की हड्डियों की खाद मिली। इस मोह से लोगों को छुड़ाने के लिए दहन-क्रिया शुरू की है। यह दहन-क्रिया एक महान विचार का चिह्न है। मृत व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में हमसे चिपका रहे—यह मोह किसलिए? मैं क्या ऐसा पारसमणि हूँ, जो मुझसे चिपके रहने से उसका जीवन सोने का हो जायेगा? मरने पर भी मनुष्य किसी-न-किसी रूप में शेष रहे, इस भाव से उसे गाड़कर उस पर चबूतरा बनाना, कम-से-कम एक पेड़ ही लगा देना, या और कुछ नहीं तो कम-से-कम उसके नाम की एक पटिया ही लगा देना, यह मर जाने पर भी उसे फिर से पकड़ रखने का प्रयत्न जैसा ही है। इसलिए दहन का मार्ग निकला। तब भी स्मारक बनते ही हैं। जलाकर राख बना दो, फिर बिलकुल खतम हो जायेगा—इस प्रकार की निषेधक भावना का द्योतक होने से बौद्धों ने निषेधक शब्द पसंद किया है। मनुष्य का मोह उसकी देह के साथ ही नष्ट हो जाये, वह शून्य हो जाये, इसी लिए बौद्धों ने केवल 'निर्वाण' शब्द ही लिया।

199. वैदिकों को 'ब्रह्म-निर्वाण', यह विधायक भाषा मधुर प्रतीत हुई

किन्तु वैदिकों ने 'ब्रह्म-निर्वाण' इस विधायक शब्द को पसंद किया। वैदिकों को विधायक भाषा अच्छी लगी। क्यों लगी, यह देखें तो दोनों पक्षों की भाषा की मधुरता और मर्यादा ध्यान में आ जायेगी। भाषा का पूर्णरूप से निर्दोष होना संभव नहीं है। भाषा का स्वरूप ही ऐसा विलक्षण है कि वह एक तरफ से समझाती है तो दूसरी तरफ गलतफहमी पैदा करती है। अतः विधायक और निषेधक, दोनों तरह की भाषा का भाव समझकर जो रुचे, उसे स्वीकार करो। वैदिकों को लगा कि मोक्ष को अभावरूप कहने की अपेक्षा भावरूप कहना उचित है। वैदिकों को लगा कि 'हम नष्ट हो गये, 'शून्य हो गये', कहने की अपेक्षा हम 'व्यापक हो गये', 'अनंत हो गये' कहना अधिक अच्छा है। इसके विपरीत बौद्ध कहते हैं, 'मिट गये' ऐसा कहने में घबराते क्यों हो? जरा हिम्मत करो। शून्य बनो। 'मिट जाने' का डर छोड़ो। "मैं अनंत होऊँगा, व्यापक होऊंगा, सर्वमय होऊंगा''—इसमें अस्तित्व का जो मोह है, उसे छोड़ दो। इस पर वैदिक कहते हैं, यहाँ डर और मोह का प्रश्न नहीं है। अनुभूति के विरुद्ध कल्पना कैसे करें? अब तक नाना प्रकार की साधना करके सब कुछ छोड़ा और आत्मनिष्ठ बने। जन्म-मृत्यु को पीछे छोड़कर अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त किया। धर्म से अधर्म का नाश किया, फलत्याग से धर्म को आत्मसात्

किया, ईश्वरार्पण द्वारा फलत्याग को उड़ाया, अंत में अद्वैतानुभूति से ईश्वर को भी अपने में समा लिया, अब वह 'मैं' ही मिटनेवाला हूँ, यह कैसे मानूं? सब वस्तुओं का निराकरण करने पर शेष बचनेवाला जो 'मैं' हूँ, वही व्यापक हो गया है, ब्रह्ममय हो गया है, यही कहना अधिक युक्तियुक्त है।

200. वस्तुतः दोनों एक ही हैं

लेकिन मोक्ष को भावरूप कहा तो भी उसमें कुछ नया जोड़ना है, यह आशय वैदिकों का भी नहीं है। इसके विपरीत बौद्ध भी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना चाहते हैं, ऐसा खयाल करना भी मेरी समझ से उनके आशय को गलत समझना है । ऐसी गलतफहमी बहुतों को हुई है, बड़ों-बड़ों को हुई है; तब भी वह है तो गलतफहमी ही। बौद्धों को 'मैं' की भाषा नहीं चाहिए। फिर बाकी कुछ भी क्यों न हो। इसलिए यह भाषा-भेद मुख्यतः रुचि-भेद के कारण हुआ है, यही समझना चाहिए। इसमें अर्थ की दृष्टि से मुझे तो खास कोई भेद दिखायी नहीं देता। अच्छा ही है कि बौद्धों को 'मैं' से अरुचि है। अनेक हीन अनुभवों के कीचड़ में लथपथ 'मैं' की जरूरत ही क्या? और वस्तुतः 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द में भी उसे कहाँ जगह दी गयी है? सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द केवल विधयक नहीं है, वह निषेधक अर्थ को गर्भ में लिये हुए विधायक है। दोनों अर्थों के संग्राहक के रूप में ही गीता ने उसकी योजना की है। 'ब्रह्म-निर्वाण' कहने पर 'मैं' गया, 'ब्रह्म' बाकी बचा। इसमें डरने की कोई बात ही नहीं। जहाँ शब्द ही समाप्त हो जाते हैं, वहाँ शब्दों के लिए झगड़ा कैसा? गीता की भाषा में तो कहूँगा, **एकं ब्रह्मं च शून्यं च यः पश्यति स पश्यति,** जो ब्रह्म और शून्य को एक देखता है, वही देखता है। इसलिए 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द ने सारा वाद ही समाप्त कर दिया है।

यहाँ स्थितप्रज्ञ का दर्शन परिपूर्ण हुआ।

॥ ॐ तत् सत् ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

परिशिष्ट :१

स्थितप्रज्ञ - युग की आवश्यकता

गांधीजी द्वारा नित्यपाठ की परम्परा

स्थितप्रज्ञ के श्लोक बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध हैं। लेकिन प्रार्थना में इन्हें बोलने का रिवाज गांधीजी ने शुरू किया। इन श्लोकों की महिमा शंकराचार्य ने बहुत गायी है। जब कभी उन्हें अंतिम अवस्था का कोई सबूत देना होता है, तो वे स्थितप्रज्ञ के लक्षण पेश करते हैं। उनके लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि उसमें एक परम संन्यासी का आदर्श रखा गया है, जो हमेशा उनके सामने था और उनको प्रिय था। जहाँ स्थितप्रज्ञता आ गयी, वहाँ केवल मुक्ति ही बाकी रह जाती है; और कुछ बाकी नहीं रहता। शंकराचार्य इन विचारों में तन्मय थे, किन्तु इन श्लोकों को इतना लोकप्रिय बनाने का श्रेय महात्मा गांधी को हासिल है। उन्होंने ये श्लोक हम जैसे साधारण साधकों के सामने, व्यवहार और राजनीति में काम करनेवाले लोगों के सामने रखे। मैं नहीं मानता कि हिन्दुस्तान में गांधीजी के पहले, इस तरह दुनिया में काम करनेवाले व्यावहारिक लोग, स्थितप्रज्ञ के श्लोक बोलते होंगे। अकसर सर्वसाधारण लोग भक्त के लक्षण गाया करते हैं। गीता का सबसे मधुर अंश अगर कोई है, तो वह भक्त के लक्षणों का है। इसलिए लोग भक्त के लक्षण गाया करते हैं, तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। उसमें साधारण सद्‌गुणों की प्रशंसा है। किन्तु स्थितप्रज्ञ के श्लोक अन्तिम अवस्था का वर्णन करते हैं, फिर भी गांधीजी ने उन्हीं श्लोकों को चुनकर लोगों के सामने रखा और वे लोकप्रिय हो गये।

वैसे तो इन श्लोकों का महत्त्व संस्कृत साहित्य में हर जगह माना गया है। गीता में ही आदर्श पुरुष के कई वर्णन हैं, लेकिन उनमें भी स्थितप्रज्ञ का विशेष स्थान है। वह शब्द गीता का अपना स्वतंत्र शब्द है। उसमें साधक का भी लक्षण बताया है और सिद्ध पुरुष का भी लक्षण बताया है। साधना भी बतायी है और अन्तिम लक्ष्य भी बताया है। एक परिपूर्ण दर्शन है। उसमें गीता की विशेष दृष्टि प्रकट होती है। आदर्श पुरुष की अंतिम स्थिति का चित्र प्रकट करने का प्रयत्न किया है। वह अनुभव की वाणी है। इसलिए चिंतनशील साधकों को उससे आधार मिलता है।

निर्णयशक्ति की महिमा बढ़ी

गांधीजी ने इन श्लोकों को क्यों चुना और उन्हें इनका इतना आकर्षण क्यों मालूम हुआ? इसका कुछ अंदाजा हम लगा सकते हैं। उसका एक कारण यह है कि विज्ञान के युग में जिसकी अत्यन्त आवश्यकता है, उसकी पूर्ति इनसे होती है। शंकराचार्य. को आत्मा की अंतिम स्थिति का बहुत आकर्षण था और उसी दृष्टि से वे इन श्लोकों की तरफ देखते थे। किन्तु वैज्ञानिक युग में रहनेवालों को इन श्लोकों में ऐसी चीज मिलती है, जिसकी इस युग को अत्यन्त आवश्यकता है।

इन श्लोकों में सबसे ज्यादा महत्त्व प्रज्ञा को दिया गया है। प्रज्ञा यानी 'निर्णय-शक्ति'। वह निर्णय-शक्ति जितनी परमार्थ में काम आती है, उतनी ही व्यवहार में भी आती है। आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य के मसले बहुत व्यापक हुए हैं। इसलिए कठिन समस्याएं पेश होती हैं। इस जमाने में छोटे-छोटे सवाल पेश नहीं होते; जो भी पेश होते हैं, बड़े ही होते हैं। लड़ाई की समस्या अगर उठ खड़ी होती है, तो वह जागतिक ही होती है। कोई सामाजिक समस्या खड़ी होती है, तो वह भी विश्व-व्यापक हो जाती है। कोई साधारण व्यापार की समस्या खड़ी होती है, तो उसका भी संबंध अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में पहुँच जाता है। इस तरह विज्ञान के कारण छोटी-छोटी समस्याएं भी बड़ा व्यापक रूप ले लेती हैं। दूसरी मजेदार बात यह होती है कि इधर तो व्यापक और कठिन समस्याएं पेश होती हैं और उधर उनका निर्णय जल्दी करने की आवश्यकता भी होती है। क्योंकि काल की महिमा इतनी बढ़ गयी है कि एक-एक घंटा भारी हो गया है। आठ बजे मिलनेवाली डाक अगर नौ बजे मिले, तो मनुष्य घबड़ा उठता है।

सारांश, जहाँ बड़ी-बड़ी समस्याएँ पेश होकर उनका निर्णय शीघ्र करने की आवश्यकता होती है, वहाँ स्थितप्रज्ञ के लक्षण एक बड़ा आधार का स्थान है। जैसे अंतिम ब्रह्म के लिए स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के सिवा गति नहीं वैसे ही इस जमाने की समस्या हल करने के लिए भी उनके सिवा गति नहीं है। इन दिनों सारी दुनिया की खबरें शीघ्र मिल जाती हैं और वे दिमाग में उपस्थित हो जाती हैं। उनका अपने पर असर हुए बिना बिलकुल तटस्थ बुद्धि से निर्णय करना होता है। अगर असर पड़ा तो निर्णय ठीक नहीं हो सकता। इस तरह इस जमाने के लिए निर्णयशक्ति की महिमा बहुत ही बढ़ गयी है। इसीलिए गांधीजी ने साधारण कार्यकर्ताओं के सामने भी गीता के ये श्लोक रखे।

स्थितप्रज्ञ में ही निर्णयशक्ति

जिसकी बुद्धि अत्यन्त स्थिर होती है, जो आत्मनिष्ठ है, जिस पर आसपास की हवा के झोंकों के परिणाम नहीं होते, वही परिशुद्ध निर्णय दे सकता है। दुनिया में प्रायः तीन प्रकार के लोग पाये जाते हैं। एक, अनिर्णयवाले; दो, विपरीत निर्णयवाले और तीन, संशयग्रस्त। अर्थात् कुछ के पास निर्णयबुद्धि ही नहीं होती, वे अनिर्णयी कहलाते हैं। कुछ ऐसे हैं, जो निर्णय तो करते हैं लेकिन धर्म को अधर्म, या अधर्म को धर्म समझकर निर्णय करते हैं। कुछ ऐसे भी लोग होते हैं—और दुनिया में इन्हीं की संख्या अधिक है—जो संशय में पड़े रहते हैं। वे 'यह भी ठीक, वह भी ठीक' कहा करते हैं। उनकी वृत्ति शंकाशील और डाँवाडोल होती है। ये त्रिविध जन कोई यथार्थ निर्णय नहीं कर पाते। केवल स्थितप्रज्ञ ही यथार्थ निर्णय कर पाता है, क्योंकि उसी में सही निर्णय-शक्ति होती है।

स्थितप्रज्ञ : आज के जमाने का आदर्श

वैसे जीवन में कई गुणों की आवश्यकता है। उनमें से कौन अधिक आवश्यक और कौन कम आवश्यक है, यह बताना एक प्रकार का मोह ही कहा जायेगा। फिर भी आजकल की समाज-रचना का सारा दारोमदार ठीक निर्णय करने की शक्ति पर ही निर्भर है। यदि लोग अपना-अपना ही विचार करते या अपने परिवारमात्र का विचार करते, तो गलत निर्णयों का बहुत बुरा परिणाम नहीं आता। तब उनसे होनेवाली हानि भी सीमित ही होती। पर आज के नेता देश, समाज और सारी दुनिया का सोचते हैं। मानो वे परमेश्वर के प्रतिस्पर्धी बन गये हों। अवश्य ही समाज ने उन्हें अपनी व्यवस्था करने के लिए चुना, लेकिन किसी को किसी काम के लिए चुनने का यह अर्थ नहीं कि उसे जीवन के हर पहलू पर निर्णय देने का अधिकार दे डाला। लेकिन आज ऐसा ही हो गया है। चुने जाने के बाद वह समाज की सभी बातों का निर्णय करना अपनी जिम्मेवारी मान लेता है, या उस पर आ जाती है। ऐसी स्थिति में जब वह सही निर्णय करे, तभी ठीक रास्ते से ले जा सकेगा। यदि गलत निर्णय कर बैठे तो अपने सहित हमें भी गड्ढे में गिरा देगा।

विज्ञान के कारण आज दुनिया के कुछ ही लोग सारी दुनिया को स्पर्श करनेवाले निर्णय करते हैं। इसलिए उनके निर्णय ऐसे होने चाहिए जिनमें स्वार्थ की गंध न हो; जो सर्वथा स्वार्थ से परे हों, शुद्ध

न्यायबुद्धि और विवेक से किये गये हों। ऐसे विशुद्ध निर्णय स्थितप्रज्ञ ही कर सकता है। इसी कारण आज के जमाने में स्थितप्रज्ञ का आदर्श अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पहले के जमाने में कोई भक्त बनने का आदर्श रखता तो चल जाता था। सब गुणों से अलग रहकर साक्षीरूप, गुणातीत बनना भी चल जाता था। कोई संन्यासी बने तो वह काफी था। सेवापरायण बने तो भी पर्याप्त था। लेकिन आज के जमाने का आदर्श तो स्थितप्रज्ञ ही है। अब यदि हमारे राष्ट्रनायक काल-भय से अलग रहनेवाले, इन्द्रियों की शक्ति से सर्वथा अप्रभावित और निरहंकार स्थितप्रज्ञ न हों, तो दुनिया बड़ी मुश्किल में पड़ जायेगी।

मेरे विचार से तो गांधीजी के निमित्त से स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का प्रार्थना के नित्यपठन का अंग बनना कालपुरुष की ही मांग थी। वैसे हर जमाने में सभी गुणों की आवश्यकता होती है और सभी गुण रहते हैं। लेकिन हर जमाने में एक गुण राजा होता है, जो उस काल की माँग पूरी करता है। कभी साहस की महिमा बढ़ती है, तो कभी प्रेम की। मेरे विचार से आज के जमाने में गुणराज स्थितप्रज्ञता ही है। जब हम केन्द्रित नियोजन की जिम्मेदारी सिर पर उठा लेते हैं, तो स्थितप्रज्ञ का महत्त्व अत्यन्त बढ़ जात है। हमारे लिए चिन्तन तो समग्र दृष्टि से ही करना उचित है, लेकिन हमारा कार्य-नियोजन विकेंद्रित होना चाहिए। उससे चिन्तन में व्यापकता आयेगी और हमारे कार्यों को विशिष्टता प्राप्त होगी।

मनुष्य कई प्रकार से समाज की सेवा करता है। शारीरिक सेवा, मानसिक सेवा और वाणी से भी सेवा करता है। लेकिन सबसे श्रेष्ठ सेवा वह है, जिसके जरिये समाज सोचने में स्वावलम्बी बनता है। लड़कों को हम तरह-तरह का ज्ञान दें, इसका उतना महत्त्व नहीं, जितना इस बात का महत्त्व है कि लड़के ज्ञान प्राप्त करने में स्वतंत्र हों। अगर समाज के हर व्यक्ति में अपने लिए विचार करने की शक्ति आ जाये, तो समाज की बड़ी सेवा होगी। अगर स्थितप्रज्ञ के ये लक्षण हम लोगों के जीवन में आ जायें—और उनका आना बहुत ज्यादा कठिन नहीं, ऐसा हम कह सकते हैं—तो समाज के मसले सहज ही हल होंगे। क्योंकि उसके परिणामस्वरूप हर घर में निर्णय-शक्ति दाखिल होगी। अगर हम चाहते हैं कि दुनिया में ‘गणतंत्र’ स्थापित हो और 'शासनमुक्ति' आये, तो मनुष्य की बुद्धि शान्त, सम और शुद्ध होनी चाहिए।

स्थितप्रज्ञता कठिन नहीं

हमने यह हिम्मत की ही बात कही है कि स्थितप्रज्ञ के लक्षण प्राप्त करना कठिन नहीं। उसे हम जरा स्पष्ट करेंगे। स्थितप्रज्ञता एक अत्यन्त विकसित अवस्था है। लेकिन सर्वसाधारण क्षेत्र में उसका साधारण आरम्भ हो सकता है। अपने निज के व्यवहार के लिए, अपने कुटुंब के क्षेत्र में, या अपने गांव के क्षेत्र में निर्णय करने की शक्ति हासिल हो सकती है। इस तरह अधिकाधिक व्यापक क्षेत्र में निर्णय करने की शक्ति हासिल हो, तो निर्णय-शक्ति के उत्तरोत्तर अनेक व्यापक अर्थ हो सकते हैं। फिर भी इस निर्णय-शक्ति का स्वरूप एक ही रहेगा। चाहे अपने व्यक्तिगत मामले में निर्णय देना हो, घर के क्षेत्र में, गांव के क्षेत्र में या अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में निर्णय देना हो। निर्णय-शक्ति का स्वरूप यही रहेगा कि मसलों के बारे में सोचने में मनोविकार दाखिल नहीं होने चाहिए।

हमने कहा है कि यह चीज इतनी कठिन नहीं मानी जानी चाहिए। इसके दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि समता आत्मा का स्वरूप है। आत्मा स्वयं निर्विकार है। हम विकारयुक्त बनते हैं, तभी हमें क्लेश होता है। निर्विकार रहने के लिए किसी क्लेश या प्रयत्न की जरूरत ही नहीं होती। किसी पर गुस्सा करना हो, तो जरूर कुछ-न-कुछ प्रयत्न करना पड़ेगा—आँख का स्वरूप बदलना पड़ेगा, हाथ उठाना पड़ेगा, चाहे लाठी भी उठानी पड़े। लेकिन अगर गुस्सा न करना हो, तो कुछ खास प्रयत्न की जरूरत ही नहीं है। उसमें कुछ करना ही नहीं पड़ता। इस तरह निर्विकार अवस्था की प्राप्ति बहुत कठिन नहीं मानी जायेगी। प्रेम में कोई कष्ट नहीं। उसमें आनन्द ही आनन्द है। स्थितप्रज्ञ बनने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता, सिर्फ स्वभावारूढ़ रहना पड़ता है। विकार हटते ही हरएक व्यक्ति स्थितप्रज्ञ हो जाता है। उसमें करने-धरने की बात ही नहीं। दूसरा कारण यह है कि इस विज्ञान के जमाने में वह एक आवश्यकता है। इसलिए हर मनुष्य में वह उपस्थित होगी।

इस तरह मनोविकारों के विरुद्ध अब दो शक्तियाँ काम करने लगी हैं। पुराने जमाने में केवल एक ही शक्ति काम करती थी और वह थी आत्मा की शक्ति। किन्तु आज मनोविकारों के विरुद्ध विज्ञान भी खड़ा है। इधर से आत्मज्ञान और उधर से विज्ञान, दोनों मनोविकारों के विरुद्ध खड़े हैं। इसलिए निर्विकार चिंतन करने की शक्ति बहुत ज्यादा कठिन नहीं मानी जानी चाहिए। हमने 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' में भी यह लिख रखा है और हमारा यह निश्चित विचार है। हमने वहाँ लिखा है—मेरे जैसा मनुष्य अगर गामा

पहलवान बनना चाहे, तो नहीं बन सकता। इसी तरह हर कोई अगर चाहे कि मैं राष्ट्रपति बनूं, तो नहीं बन सकता। लेकिन हर कोई चाहे, तो स्थितप्रज्ञ बन सकता है।

पूरी लगन रही तो वह बहुत असंभव बात नहीं और न बहुत कठिन ही है। कारण ज्ञानी के ये लक्षण आत्मा के स्वरूप में पहले से ही विद्यमान हैं। यानी हम मूल में वैसे ही हैं। केवल ऊपर से पर्दा आ गया है। उसे दूर करने की आवश्यकता है। इसलिए हम ये लक्षण सदैव दुहराते हैं और इनका हमें बहुत आकर्षण है। ज्ञानी के इन लक्षणों में हमें अजीब ताकत महसूस होती है। हम इनसे कितने दूर हैं, इसका भान होने पर भी इन श्लोकों को बोलने में कोई हिचकिचाहट मालूम नहीं होती।

इन लक्षणों में हम बोलते हैं कि हम अपनी आत्मा में संतुष्ट रहें। जब हम आत्मा में समग्र विश्व का दर्शन करते हैं, तब मानव-बुद्धि स्थिर होती है। इस विचार को सब लोग कबूल करते हैं, फिर भी वे समझते हैं कि यह चीज हमारे जीवन के लिए कम-से-कम आज तो काम की नहीं है, बहुत बड़ी ऊँची बात है। वास्तव में इसी कारण हमारा जीवन आगे नहीं बढ़ रहा। हम ऐसी सभी अच्छी चीजों को ऊँचे ताक पर रख देते हैं और कहते हैं कि वे हमारे काम की नहीं हैं। परिणाम यह होता है कि अपने काम की चीजों का भी लोगों को भान नहीं होता।

निःसंदेह जो ऊँचा तत्त्व होता है, वह हमारी आज की योग्यता से परे है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उन तत्त्वों का आज उपयोग ही नहीं है। इसका उपाय तो यही है कि हम इन तत्त्वों को बार-बार दुहरायें, इनका स्मरण, चिन्तन तथा मनन करें और अपने पर अधिकाधिक काबू पाना सीखें। अपने पर अधिकाधिक संयम रखें और दूसरे को क्षमा करते चले जायें। अगर हम क्षमा की दृष्टि से दूसरे की ओर देखें, तो कभी-न-कभी वह दर्शन होगा जिसका जिक्र स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में आता है।

हमें तो विश्वास है कि ये लक्षण सबको प्राप्त हो सकते हैं। वे हमारी कल्पनाशक्ति से बाहर नहीं। हम तो कुछ उनकी झाँकी भी पाते हैं। चाहे चंद क्षणों के लिए सही, वैसा अनुभव आ सकता है। यह अनुभव किस तरह टिकाया जाये, इसकी युक्ति इन श्लोकों में बतायी है।

इसलिए आप सदा-सर्वदा स्थितप्रज्ञ और उसके लक्षणों का स्मरण करें। सोचें कि समाज में ऐसे स्थितप्रज्ञ हों, हमारे बच्चे स्थितप्रज्ञ बनें। इसके लिए प्रत्येक बच्चे को यह शिक्षण देने की व्यवस्था करें

कि वह इन्द्रियों पर काबू रखे। चारों ओर से संकटों के हमले हों, मान-अपमान, राग-द्वेष आदि पैदा करनेवाले मौके आयें तो भी वे अपने चित्त पर उनका असर न होने दें। मान-अपमान, निंदा-स्तुति की परवाह न करें और आस-पास की हवा से चित्त को अलग रख सकें। तभी आज की स्थिति से उद्धार का कोई रास्ता निकल सकता है।

परिशिष्ट : २

आत्मस्मृति से स्मृति-निराकरण और ब्रह्म-निर्वाण- प्राप्ति

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की विशेषता इस नाम से ही प्रारम्भ होती है। भक्त, ज्ञानी, योगी आदि नाम सर्वत्र चलते हैं। भक्त के लक्षण बाइबिल में, कुरान में, भागवत में, रामायण में जगह-जगह मिलेंगे; लेकिन स्थितप्रज्ञ के लक्षण से गीता की ही याद आयेगी। मतलब गीता ने शब्द ही नया दिया है। नयी कल्पना रखनी होती है, इसलिए नया शब्द बनाया जाता है। नाम से ही उसकी विशेषता शुरू होती है। क्योंकि प्रज्ञा को ही मुख्य गुण मानकर लक्षण बताये गये हैं। वे रूखे-सूखे दीखते हैं। भक्त-लक्षणों जैसा आर्द्र वर्णन इसमें नहीं मिलता। जैसा कबीर ने कहा है, 'रूखा-सूखा राम का टुकड़ा', वैसा यह वर्णन है। फिर भी, उनमें एक जगह गीलापन है, कुछ नमी है। बाकी सारा वर्णन वैज्ञानिक की भाषा जैसा है। यह स्थान वह है, ज जहाँ भगवान् बता रहे हैं कि प्रज्ञा-प्राप्ति में रस-निवृत्ति होनी चाहिए और उस काम में ज्ञान और प्रयत्न दोनों ताकतें कम पड़ती हैं, वहाँ कहा है—**परं दृष्ट्वा निवर्तते** और **युक्त आसीत मत्परः।** इस तरह दो जगह परमेश्वर का उल्लेख आया है। 'मत्पर:' यानी मुझे ही 'पर' समझकर मुझमें लीन हो जाओ। मत्परायण भक्त इन्द्रियों को काबू में रखता है। फिर प्रज्ञा स्थिर होती है।

संस्कारों की पकड़

मनुष्य की दो शक्तियाँ, ज्ञान-शक्ति और कर्म-शक्ति, पूर्व संस्कारों के कारण कम पड़ती हैं। और वे पूर्व संस्कार भी इस जन्म के नहीं, अनेक जन्मों के संचित होते हैं। अनेक जन्मों के इसलिए कि कुछ संस्कारों की बहुत ज्यादा पकड़ चित्त पर होती है, बावजूद इसके कि प्रवाह उलटा होता है।

कालक्रमेण संस्कार क्षीण होने चाहिए। क्योंकि काल में वेग-क्षय का सामर्थ्य है। किसी भी चीज का वेग, जैसे-जैसे काल बीतेगा, वैसे कम होता जायेगा। हम गेंद फेंकते हैं; प्रतिक्षण उसका वेग कम होता जाता है। यही हाल संस्कारों का है। जैसे काल बीतता है, उसका क्षय होता है। शाम को गुस्सा आया। उसमें बहुत कुछ कर डालने की इच्छा हुई। किसी कारण वह नहीं बना। फिर रात में निद्रा आ गयी। दूसरे दिन गुस्सा बहुत कम हो गया। इंग्लिश में तो कहावत ही है 'स्लीप ओवर' करना। यानी कुछ काल बीच में चला जाये, तो संस्कार का वेग कम हों जायेगा। नींद में क्रोध का वेग कम होता है। अर्थात्

संस्कार कमजोर पड़ते हैं। सुसंस्कार कमजोर नहीं पड़ते, कुसंस्कार कमजोर पड़ते हैं। यह परमेश्वर की कृपा है कि कुसंस्कारों का क्षय होता है और सुसंस्कार बढ़ते हैं। नींद में बड़ा भारी गुण है कि मनुष्य साम्यावस्था में पहुँच जाता है।

असली रुकावट स्मृति

मनुष्य में दूसरी एक विलक्षण शक्ति है। उसके कारण संस्कार पूर्ववत् कायम रहते हैं। चित्त पर जो भी संस्कार होता है—किसी वाक्य का, शब्द का या ध्वनि का—वह स्मरणशक्ति के कारण ताजा होता रहता है। मनुष्य के सामने बहुत बड़ी समस्या है—स्मृति पर काबू रखना। जो चीज चित्त में बैठ गयी, उसे कैसे निकालना—भूलना, यह समस्या है। जितना हम भूलने की कोशिश करते हैं, उतनी वह पक्की होती है। इसलिए साधना में सबसे कठिन कार्य जो मैंने अनुभव से देखा, वह है स्मृति को काटना। कोई चालीस साल पहले सुना हुआ बुरा शब्द कभी सपने में आता है। बचपन के संस्कार तो बहुत तीव्र होते हैं। बड़े गहरे होते हैं।

कोई कहता है कि मैं नींद की कोशिश करता हूँ, लेकिन नींद नहीं आती। यह 'कोशिश' ही नींद के खिलाफ है। नींद नहीं आती, तो शरीर को ढीला छोड़ दो। लेकिन मन को ढीला छोड़ दिया तो मुश्किल है। जैसे प्रयत्न नींद के खिलाफ है, वैसे भूलना स्मृति के खिलाफ है। जितना भूलने की कोशिश करते हैं, उतनी याद आती है। रात-दिन वह याद चित्त को घेरे रहती है। इसलिए दूसरी-तीसरी स्मृतियों को जगने का मौका ही नहीं देना चाहिए। और इसीलिए भगवान् ने कहा है—**युक्त आसीत मत्पर:।** परायण रहना यानी तन्मय होना। ऐसी तन्मयता कि रात-दिन दूसरी कोई बात सूझ ही नहीं सकती। तब दूसरी चीजें सहज ही भूल जाती हैं।

आत्मस्मृति से स्मृति को हटायें

स्थितप्रज्ञ के लक्षण में स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश अर्थात् सर्वनाश कहा है। आत्मस्मृति होनी चाहिए। वह जाती है और अन्य स्मृतियों का असर चित्त पर रह जाता है, इसलिए उसे स्मृतिभ्रंश कहा है। संस्कारों को छोड़ना मुश्किल नहीं मालूम होता, लेकिन संस्कारों की स्मृतियों को छोड़ना मुश्किल है। सारी साधना

उसमें है। इसलिए 'अनन्यचेता: सततं' कह दिया, फिर भी तृप्ति नहीं हुई, तो उसके साथ जोड़ दिया—**अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।**

विस्मरण की कोशिश उन स्मृतियों को जगाती है। गलत स्मृति को हटाने में 'पाजिटीव' (विधायक) प्रक्रिया काम में आयेगी, निगेटिव (निषेधक) नहीं आयेगी। क्योंकि स्मरण तो कायम रहता ही है। इसी लिए कहा—**सुमिरन कर ले मेरे मना।** कुरान शरीफ में है, सलात यानी प्रार्थना बुराई को रोकती है और अच्छे काम में मदद देती है, लेकिन **जिकरल्लाहु अकबर।** मतलब, सलात से भी अल्लाह का स्मरण बेहतर है। प्रार्थना अच्छी चीज है। उससे भलाई की प्रेरणा मिलती है, बुराई दूर होती है। प्रार्थना सदाचार है। सदाचार का संग्रह करना चाहिए। उससे लाभ होता है। लेकिन प्रार्थना से भी बेहतर अल्लाह का स्मरण है। प्रार्थना से एक 'चेक-अप' हो जाता है। नमाज द्वारा 'चेक-अप' होता है। त्रिकाल संध्या से 'चेक-अप' होता है। लेकिन अल्लाह का जिक्र सबसे श्रेष्ठ है। भगवान् का अनुस्मरण करें। नित्य स्मरण के लिए संस्कृत में अनुस्मरण शब्द है। भगवान् का अखण्ड, लगातार स्मरण रहे, यह भक्ति का परम श्रेष्ठ प्रकार है, जिससे अन्य स्मृतियाँ हट जाती हैं।

भगवत्-स्मरण का उपाय

बुरे संस्कारों को हटाना चाहिए, इसलिए अच्छा संस्कार डाला, लेकिन स्मृति बदमाशी यह करती है कि वह अच्छे और बुरे, दोनों प्रकार के संस्कारों का स्मरण रखती है। वह बुरे संस्कारों को काटती नहीं। जैसे बीजगणित में होता है। अंकगणित में सात में से पाँच गये, तो दो बचे। लेकिन बीजगणित में 'ए-बी' करने से दोनों कायम रहते हैं, धन और ऋण चिह्नों के साथ। वैसे कुसंस्कारों का घटाव हो सकता है, लेकिन कुसंस्कारों का रेकार्ड (स्मरण) रह जाता है। जैसे इतिहास में सब प्रकार का रेकार्ड रहता है। फलां देश पराधीन था। अब वह देश स्वाधीन हुआ है। लेकिन इतिहास में रेकार्ड कायम है कि वह देश पहले पराधीन था। आज स्वाधीन हुआ है, तो भी पुराना रेकार्ड कायम है। तो सवाल यह है कि रेकार्ड से चीज कैसे हटे ? जवानी से आपने बचपन को हटा दिया और बुढ़ापे से जवानी हटा दी, लेकिन बचपन का और जवानी का स्मरण कैसे हटायेंगे? चाहे अच्छे स्मरण हों, चाहे बुरे।

इसलिए भगवत्-स्मरण का उपाय बताया। उसी में मनुष्य पूर्ण एकाग्र हो सकता है। ऐसे, गणित में भी तन्मयता, एकाग्रता हो सकती है। सपने में भी गणित के सवाल आ सकते हैं। जागृति में जिन सवालों का उत्तर नहीं मिला, उनका सपनों में मिल सकता है। और बहुत आनन्द हो सकता है। लेकिन वह तन्मयता भी ऐसी है कि जिसमें भूख लगी, तो खाना पड़ता है, नींद आयी तो सोना पड़ता है। चाहे कम खायें, कम सोयें, पर वह सारा करना पड़ता है। यानी गणित सब कृतियों में पिरोया नहीं रह सकता। जो सब कृतियों में पिरोया जा सकता है, यानी सब कृतियों के बावजूद जो कायम रह सकता है, ऐसा भगवत्-स्मरण ही है। जैसे श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया हर कृति के साथ कायम रहती है। आप चलते हैं, तो आपका बैठना बंद हो गया, लेकिन श्वासोच्छ्वास तो चलता ही है। वैसे हर कृति में भगवत्-स्मरण रहता है। भगवत्-स्मृति के सामने कोई चीज टिकती नहीं। इसलिए गीता ने एक जगह कहा—**परं दृष्ट्वा निवर्तते,** और फिर कहा, **युक्त आसीत मत्परः**-मत्परायण हो।

प्रज्ञा की प्राप्ति चाहिए, तो सिर्फ कुसंस्कारों को हटाने से नहीं चलेगा, गलत स्मृतियों को भी हटाना होगा। इसके लिए परमेश्वर की स्मृति का आश्रय लेना पड़ता है। ईसाइयों ने पाप को खतम करने के लिए बताया कि कन्फेशन करें, कबूल करें, इजहार करें, तो पाप खतम होगा। जैसे काल में वेग-क्षय की क्षमता है, वैसे पाप जाहिर करने में भी क्षय करने की सामर्थ्य है। जाहिर करने से तो पुण्य का भी क्षय होता है। तो कुसंस्कार और स्मृतियाँ हटाने के लिए ईसाइयों ने कन्फेशन (इजहार) का उपाय बताया। पर उसमें भी क्या होता है। कन्फेशन से स्मृति पक्की होती है। जाहिर कर दिया, उससे पाप गया, कुसंस्कार गये, इसके आगे अच्छे संस्कार होंगे, तो भी उस चीज की स्मृति—याद इजहार से पक्की बनी! मैं मानता हूँ कि कन्फेशन में एक शक्ति है। उससे हमें समाज का बल मिलेगा, मदद मिलेगी और हमारे हाथ से ऐसे बुरे काम या गलतियाँ नहीं होंगी। लेकिन उसके कारण स्मृति तो बनेगी, रेकार्ड तो ही जायेगा। इसलिए रेकार्ड से भी स्मृति कैसे हटायें ? बुरे संस्कार याद आते हैं। उस याददाश्त को स्मृति से कैसे हटायें? यही कठिन सवाल है। बहुत कठिन साधना है। इसलिए गीता में स्थितप्रज्ञ-लक्षण में भगवत्-स्मरण की और भगवत्-भक्ति की आवश्यकता बतायी गयी है।

साधक की साधना में सबसे बड़ी मुश्किल कुसंस्कारों को मिटाने की नहीं, कुस्मृतियों को मिटाने की है। शिक्षा-शास्त्री जानते हैं कि अच्छे या बुरे संस्कार बचपन में हृदय पर गहराई से अंकित होते हैं।

अतः शिक्षा की योजना अच्छी हो, इस पर जोर दिया जाता है और वह ठीक भी है। शिक्षा की योजना जो भी हो, लेकिन जहाँ रजोगुण और तमोगुण काम करते हैं, केवल सत्त्वगुण काम नहीं करता, वहाँ कुछ कुसंस्कारों का होना अनिवार्य-सा है। उन कुसंस्कारों को प्रयत्नों से मिटाया जा सकता है । वह मनुष्य के पुरुषार्थ का विषय है। कुसंस्कारों को मिटाने के लिए भगवान् के पास पहुँचना अनिवार्य नहीं, उतनी शक्ति मनुष्य को हासिल है।

योगसूत्रकार ने इसको 'प्रतिपक्षभावना' कहा है। अगर हिंसा का संस्कार है तो वह अहिंसा के संस्कार से मिटाया जा सकेगा। द्वेष का संस्कार है, तो वह प्रेम के संस्कार से मिटाया जा सकेगा। इसे एक प्रक्रिया के रूप में साधना-शास्त्र में बताया जा सकता है और मनुष्य प्रयत्न करने से इसे हासिल कर सकता है। वह ध्येय कुसंस्कारों को मिटाने का है। कुसंस्कार गहरे हों, तो अधिक प्रयत्न करना पड़ेगा। प्रयत्न की पराकाष्ठा भी करनी पड़ेगी। पर वह यत्नसाध्य है। कुस्मृतियों को मिटाना बड़ी कठिन समस्या है। कारण यह है कि स्मृति रेकार्ड के रूप में रह जाती है। इतिहास बदलने पर भी रेकार्ड कायम रहता है। कुस्मृतियों को मिटाने के लिए परमेश्वर की कृपा का आवाहन करना पड़ता है। इसलिए **युक्त आसीत मत्परः** ऐसा आदेश गीता ने दिया है।

ईश्वरनिष्ठा ही मददगार

भक्ति का इस प्रकार अनिवार्य जगह पर आवाहन किया है, इसलिए भक्ति श्रेष्ठ है। ऐसे तो परमेश्वर की शक्ति अव्वल से आखिर तक, प्रारम्भ से अंत तक मदद करेगी। लेकिन कुछ लोग मानते हैं, ईश्वर पर आधार रखने से मनुष्य प्रयत्न छोड़ता है। ऐसी बात नहीं। लोग समझते हैं कि अवतार आयेगा और सब करेगा, हमें कुछ नहीं करना पड़ेगा। पर वे समझते नहीं। अवतार की राह देखना यानी क्या? अवतार किसलिए आएगा? दुर्जनों के विनाश के लिए और सज्जनों के पालन के लिए—और इस तरह धर्मसंस्थापन के लिए। अब अगर हम दुर्जन बने रहते हैं, तो अवतार आयेगा और हमारा विनाश करेगा। अवतार की राह देखना यानी अपने विनाश की राह देखने की बात होगी। अवतार की राह देखने का मतलब ही है, सज्जनता की पूर्ण कोशिश। सत्य की राह पर रहने की पूर्ण कोशिश करनेवाले अवतार की राह देखते हैं, ऐसा कह सकते हैं। अन्यथा, अगर दुर्जन बने रहे, आलसी बने रहे और कहीं अवतार आया, तो हमारा ही विनाश हो जायेगा। सारांश, ईश्वरनिष्ठा में प्रयत्न का अभाव नहीं है, प्रयत्न की

पराकाष्ठा है। इसलिए ईश्वरनिष्ठा शुरू से आखिर तक मदद देती है। लेकिन जहाँ वह अनिवार्य है, यानी उसकी मदद के बिना जहाँ चलेगा ही नहीं, ऐसा स्थान है स्मृति-मुक्ति। अन्यथा, इस स्मृति-मुक्ति के लिए कया किया जाये? इसका उत्तर मुझे किसी नास्तिक से नहीं मिला। वैसे, नास्तिकों से और बहुत सुना, जिससे कि ईश्वर की आवश्यकता नहीं भी मान सकते हैं। लेकिन इस मसले का उत्तर नास्तिक दर्शनों में इतना ही मिलता है कि कर्मभोग भोगते हुए, अनेक जन्म प्राप्त करते हुए निर्वाण हो जायेगा। जैनों ने यह उत्तर देने की कोशिश की हे।

शुभस्मृतियों को हजम करना

भगवान् ने इन सब स्मृतियों को स्मृति-भ्रंश कहा है। यानी जहां आत्मस्मृति नहीं है, वहाँ ये दूसरी स्मृतियां होती हैं। इसलिए कुस्मृतियों को मिटाने का और शुभ स्मृतियों को हजम करने का उपाय है, आत्मस्मृति की लब्धि। कुस्मृतियाँ मिटानी ही होंगी और शुभस्मृतियाँ हजम करनी होंगी, यानी आत्मा में डुबोनी होंगी। अमुक ने बहुत अच्छा काम किया, या बीस साल पहले मैंने बहुत अच्छा काम किया था, उसकी स्मृति मेरे मन में रह गयी। दोनों अच्छे कार्यों की स्मृति होने के कारण उन्हें मिटाना नहीं है; परन्तु उन शुभस्मृतियों को हजम करना चाहिए। यानी यह पहचानना चाहिए कि जो-जो शुभ कार्य होते हैं, उनका आधार न मैं हूँ, न कोई दूसरा है, बल्कि शुभकार्य सद्गुणों से प्रेरित होते हैं। वे सद्गुण आत्मा का रूप हैं। इसलिए किसी महात्मा ने अच्छा काम किया, या मैंने अच्छा काम किया, इसकी स्मृति आत्मस्मृति है, गुण-स्मृति है। किसी महात्मा ने अच्छा काम किया, तो प्रेम के कारण किया, सत्य और करुणा के कारण किया। मैंने जो काम किया, वह भी प्रेम के कारण किया। किसी गुण के कारण ही अच्छा काम हुआ है। जितना शुभ कार्य दुनिया में होता है, चाहे इस शरीर द्वारा होता हो, या दूसरे किसी शरीर द्वारा होता हो—सत्य, प्रेम, करुणा आदि गुणों द्वारा ही होता है। और ये गुण आत्मा का रूप हैं, इसलिए इनकी स्मृति वास्तव में आत्मस्मृति में डुबोयी जा सकती है।

अगर हम यह मानें कि इतना अच्छा काम मेरा, और उतना अच्छा काम दूसरे किसी का, तो अहंकार हो जायेगा। इतने अच्छे काम मेरे और इतने दूसरे के, यह भेद हो जाये, तो आत्मस्मृति नहीं होगी। और उसे गीता की परिभाषा में स्मृतिभ्रंश ही कहा जायेगा। यानी वह आत्मस्मृति से अलग बात होगी। उसमें फिर किसी महात्मा का विशेष जयजयकार होगा, तो दूसरे किसी का दर्जा कुछ कम होगा।

ये दर्जे बढ़ाने और घटाने के सब काम उन अच्छी स्मृतियों से होंगे। अगर, अच्छी स्मृतियां गुण-प्रेरित हैं और गुण आत्मा के होते हैं, इसका भान रहा तो हम आत्मस्मृति से अलग नहीं होंगे। इसलिए अच्छी स्मृतियों को आत्मस्मृति में डुबोना है।

इसी का नाम है शुभ स्मृतियों को हजम करना। मैंने केला खाया और हजम किया, तो उसे अपना रूप दिया। केला केले के रूप में खाया और उसे मांस का यानी शरीर का रूप दे दिया। केला खाने का संबंध शरीर से है, इसलिए शरीर का रूप दिया। वैसे ही, कोई शुभगुण-प्रेरित काम हुआ—मेरे जरिये हुआ, तो मेरे इस शरीर के जरिये नहीं, लेकिन अंदर जो आत्मा है, उसके जरिये हुआ, यह ध्यान में आना चाहिए। जहाँ जितना भी गुण प्रकट हुआ, उसका श्रेय आत्मा को ही है, किसी व्यक्तिविशेष को नहीं। इस तरह शुभ स्मृतियों को आत्मा में डुबोना है।

आत्मस्मृति से ब्रह्मनिर्वाण

कुस्मृतियाँ मिटें और शुभस्मृतियाँ हजम हो जायें, तो आत्मस्मृति जागेगी। शुभस्मृति और कुस्मृति दोनों रहेंगी, तो आत्मस्मृति जागेगी नहीं, आत्मस्मृति का भ्रंश होगा। आत्मस्मृति जगाने का उपाय है, भली-बुरी स्मृतियों से अलग होना। आत्मस्मृति जागेगी तो अन्य-स्मृतियाँ जायेंगी, और अन्य-स्मृतियाँ जागेंगी, तो आत्मस्मृति जायेगी। यह है पेंच और इस पेंच को तोड़नेवाली है परमेश्वर की कृपा। इसलिए **'मत्परः'** कहा है, ताकि आत्मस्मृति जागे और अन्यस्मृति लुप्त हो।

गीता में अर्जुन ने भगवान् का उपदेश सुना। फिर अर्जुन से जब पूछा गया कि क्या तूने एकाग्र चित्त से सुना, तेरा मोह नष्ट हुआ? तब उत्तर में वह कहता है, **नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**—मोह नष्ट हुआ अर्थात् भली और बुरी स्मृति गयी, और स्मृति मिली यानी आत्मस्मृति मिली। कैसे हुआ यह काम? **त्वत्प्रसादात्।** तेरी कृपा से। उसने एक शास्त्र ही सामने रख दिया। 'मोहनाश यानी अन्य-स्मृतिनाश भगवान् की कृपा से होता है, और मेरे बारे में यह अनुभव आया है' ऐसा अर्जुन बोल रहा है—**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादात्।**

यह सारा विषय—स्मृति और प्रज्ञा—योगसूत्रों ने छेड़ा है, जो गीता के बाद का है। बौद्ध धर्म ने छेड़ा है, जो गीता के बाद का है। और वेद-उपनिषद में भी उसकी झलक दीखती है, जो गीता के पहले

के हैं। यानी वेदोपनिषद पूर्व-दर्शन है। गीता मध्य-दर्शन है। योगसूत्र, बौद्ध आदि उत्तर-दर्शन है या अन्तिम दर्शन है (बौद्धों में जैन भी मैंने मान लिया है)। इन तीनों दर्शनों में इसकी चर्चा चलती है, बल्कि इसी चीज की चर्चा चलती है। स्मृति-मुक्ति और आत्मस्मृति का लाभ जहाँ होता है, वहाँ मनुष्य को निर्वाण प्राप्त होता है। आत्मस्मृति चाहिए। उसके लिए भगवत्-कृपा चाहिए। उससे ब्रह्म-निर्वाण मिलेगा। इस तरह इस छोटे से स्थितप्रज्ञ-दर्शन में आत्मा, ईश्वर और ब्रह्म ऐसे तीनों शब्दों का प्रयोग हुआ है।

आत्मा वह है, जिसकी हमें अनुभूति होती है। हम महसूस करते हैं कि हम हैं। सामने सृष्टि खड़ी है, उसमें जो अंतर्यामी रूप में विराजमान है वह परमेश्वर है। ब्रह्म वह है, जिसमें परमेश्वर और आत्मा दोनों डूब जाते हैं। शरीरगत, शरीर को पहचाननेवाला जो शरीर से भिन्न तत्त्व है, उसे आत्मा कहते हैं। सृष्टि के अन्दर रहनेवाला, सृष्टि को पहचाननेवाला, सृष्टि से भिन्न जो एक तत्त्व है, उसे ईश्वर कहते हैं। प्रतिक्षण हम श्वास अंदर लेते हैं, खराब वायु बाहर छोड़ते हैं। बाहर की स्वच्छ, निर्मल वायु अंदर लेते हैं। यह ईश्वर की कृपा है, लेकिन हम इसे वायु-कृपा समझते हैं। शरीर में जल-तत्त्व है। वह जरा-सा सूखता है, तो पानी पीते हैं। इसे हम जल-कृपा समझते हैं, परमेश्वर की कृपा नहीं समझते। बुद्धि-तत्त्व में जहाँ कमजोरी आती है, वहाँ बाह्य सृष्टि में जो बुद्धि-तत्त्व है, उसकी मदद हम लेते हैं—गुरु की बुद्धि के जरिये, ग्रंथ के जरिये बाहर की बुद्धि की मदद लेते हैं। उसी तरह जहाँ आत्मा में कमजोरी महसूस करते हैं, वहाँ सृष्टि में जो तत्त्व है, जिसके प्रतिबिम्ब-स्वरूप यह आत्मा है, उस परमेश्वर से हम मदद लेते हैं। यहाँ परमेश्वर की कृपा का स्थान आया। जहाँ आत्मतत्त्व की कमी मालूम हुई, उसकी पूर्ति के लिए परमेश्वर-तत्त्व से मदद मिलती है।

परमेश्वर का स्वरूप है ब्रह्मांडधारी, जैसे हम शरीरधारी हैं। और जैसे हम शरीर से भिन्न हैं, वैसे वह ब्रह्मांड-भिन्न है। जैसे हम देह को पहचाननेवाले हैं, वैसे वह ब्रह्मांड को पहचानने वाला है। वह परमेश्वर है। उससे हमें मदद मिल सकती है। अगर वह मदद मिलेगी और कुस्मृतियाँ खतम होंगी, शुभस्मृतियाँ आत्मस्मृति में डूब जायेंगी, तब आत्मस्मृति जागेगी और तब ब्रह्म-निर्वाण होगा। ब्रह्म में आत्मा लीन हो जायेगा। इसी को बौद्धों ने 'निर्वाण' कहा है।

गीता-प्रवचन में सकल-जनोपयोगी परमार्थ का सुलभ विवेचन है। 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' उसके और आगे का ग्रंथ है, जिसमें वही विषय एक विशिष्ट भूमिका पर से कहा गया है। वह एक शास्त्रीय पुस्तक है और साधकों को उससे बहुत मदद मिलती है, ऐसा अनुभव आया है। 'गीता-प्रवचन' जिसने पढ़ ली, वह 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' का अधिकारी हो जाता है। 'गीताई-चिन्तनिका' गीताई का सूक्ष्म अध्ययन करनेवालों के लिए है। तीनों में मिलकर गीता के बारे में मुझे जो कहना है वह संक्षेप में सांगोपांग कहा है।